जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 9 • सितंबर, 2004

आचार्य श्री कैलास सागर सूरि ज्ञान मन्दिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा, जि. गांधीनगर, पीन-३८२००९

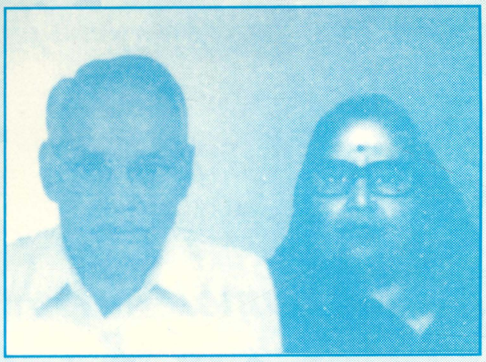

स्व. माता-पिता बच्छराजजी जीवजीदेवी खटेड़

स्व. सुपुत्र विवेक खटेड़

With Best Compliments From :

Rajendra Khater (Taranagar)
Mobile : 9845023851

Ashok Plastics

157/35, 3rd Main Road, Industrial Town
Rajajinagar, Bangalore 560044
Phone : 3350804

MAHABIR STORES
Kumbarpet, Bangalore 560002
Phone : 22239997

Residence:
7, Meghdoot Apartment, 3rd Floor
Lakshmi Road, Shantinagar, Bangalore-27
Phone : 22239413, 22273640

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 ● सितंबर, 2004 ● अंक 9

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
धर्म—प्रवृत्ति-रूप; निवृत्ति-रूप

14
डॉ. राधाकृष्णन
भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

20
नन्दकिशोर आचार्य
आधुनिक कविता की आध्यात्मिकता

●

आवरण
अडिग

अनुभूति

29
आचार्यश्री तुलसी
महापर्व पर्युषण : एक दृष्टि

●

30
खमत-खामणा

34
साध्वी नगीना
श्रद्धा और तर्क का समन्वयन

37
मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'
मोहन से मुदित, मुदित से महाश्रमण

40
कहानी
जयंत नारळीकर
छुपा सितारा

46
कविता
रमेशचंद्र शाह की कविता

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-शिक्षा

शीलन

49
मुनि दुलहराज
संयम, समर्पण, अनुशासन की त्रयी

●

51
सार्वभौम धर्म के प्रवक्ता

53
बालकथा
मुनि ऋषभकुमार
करनी का फल

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

त्याग को तोड़ने वाला कौन और पालने वाला कौन?

कुछ लोग कहते हैं—'ये (शिथिलाचारी साधु) दोषों का सेवन करते हैं, फिर भी अपने से तो अच्छे हैं। ये सजीव जल नहीं पीते, स्त्री का सेवन नहीं करते।' इस पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—

एक व्यक्ति ने तीन एकासन किए। प्रत्येक दिन उसने छह-छह रोटियां खाईं। एक व्यक्ति ने तेला (तीन दिन का उपवास) किया और प्रत्येक दिन आधी-आधी रोटी खाई। इन दोनों में त्याग को तोड़ने वाला कौन और पालने वाला कौन? तेला करने वाले ने त्याग को तोड़ा और एकासन करने वाले ने त्याग का पूरा पालन किया।

इसी प्रकार गृहस्थ स्वीकार किए हुए व्रतों का सम्यक् पालन करता है, वह एकासन करने वाले जैसा है और जो साधुपन को स्वीकार कर दोषों का सेवन करता है वह तो तेले में रोटी खाने वाले जैसा है।

फूलझड़ी से क्या होगा?

सामने वालों को समझाने के लिए कड़े दृष्टांत का प्रयोग किया जाता। जब किसी ने स्वामीजी से कहा—'आप कड़े दृष्टांत का प्रयोग करते हो।'

तब स्वामीजी ने कहा—'रोग तो गंभीर बात का हुआ और कहता है, इसे फूलझड़ी से दाग दो।' पर फूलझड़ी से दागने पर वह रोग कैसे मिटेगा? वह मिटेगा आग में तपे हुए लोहे के कुश के दागने से।

ऐसे ही मिथ्यात्व का रोग बड़ा जटिल है, वह कड़े दृष्टांत के बिना कैसे मिट सकता है?

विवेक

एक लड्डू में जहर मिला हुआ है और दूसरे में नहीं है, किंतु समझदार आदमी निर्णय किए बिना दोनों में से किसी को भी नहीं खाता। इसी प्रकार साधु और असाधु का निर्णय किए बिना किसी को भी वंदना नहीं करता।

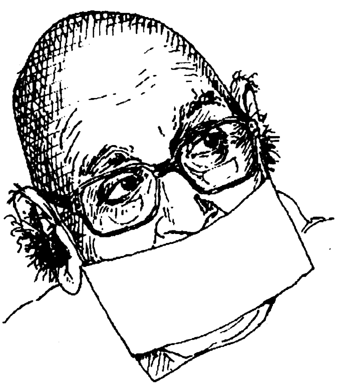

मनुष्य अच्छा या बुरा जो-कुछ करता है, वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव, वैसी अभिव्यक्ति—यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रवृत्ति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है—इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ? और न बदलने में क्या नुकसान? लाभ और नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

बदलाव की प्रक्रिया जटिल हो सकती है, पर वह असंभव नहीं है। जो व्यक्ति बदलना चाहता है, उसके लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम निर्धारित है। उसके पांच अंग हैं—

आस्था, आशा, आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति और अनुप्रेक्षा अभ्यास।

—आचार्यश्री तुलसी

जीवन में प्रकाश का बहुत महत्त्व है। बाहर के प्रकाश से भी बड़ी उपलब्धि है हमारे भीतर का प्रकाश। ज्ञान हमारे भीतर का प्रकाश है। शिक्षक अज्ञानरूपी अंधकार को समाप्त कर ज्ञान का प्रकाश जगाता है। शिक्षक ज्ञानदाता होता है। अपेक्षा है कि शिक्षक सिर्फ शब्दज्ञान ही न दें, अपने जीवन से भी नया बोधपाठ सिखाते रहें।

व्यक्ति के व्यवहारों में अहिंसा परिलक्षित हो, इसके लिए आवश्यक है कि उसके विचारों में अहिंसा हो और भावों में भी अहिंसा हो। अहिंसक जीवनशैली में आस्थाशील व्यक्ति कभी अधीर नहीं बनता; अपने आवेश पर नियंत्रण रखता है। उसके विचारों में और आचरण में नैतिक मूल्यों का प्रभाव रहता है।

हमारे भीतर भावों की एक विलक्षण दुनिया है। भाव शुक्ल भी होते हैं और कृष्ण भी होते हैं। सुखानुभूति कराने वाले भाव भी हमारे भीतर हैं और दुखी बनाने वाले भाव भी हमारे भीतर हैं। जीवन-विज्ञान अशुभ भावों के परिष्कार व अच्छे भावों के निर्माण की प्रक्रिया है। जीवन-विज्ञान और प्रेक्षाध्यान में केवल सिद्धांत का ही प्रशिक्षण नहीं दिया जाता, बल्कि प्रायोगिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। प्रयोग से आने वाला परिवर्तन ही स्थाई होता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

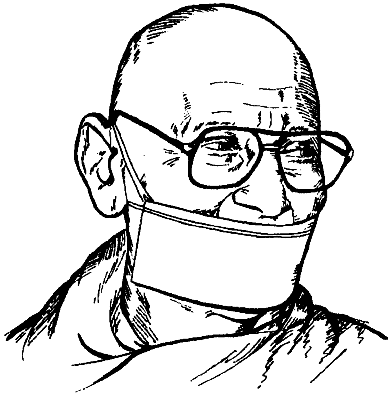

सामाजिक जीवन समस्याओं का जीवन होता है। सचाई यह है कि हमारी दुनिया में कोई भी जीवन समस्यामुक्त नहीं हो सकता। इसीलिए मनुष्य समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। समस्या आती है और वह सुलझाई भी जाती है। यह क्रम निरंतर चलता रहता है। मनुष्य का स्वभाव भी एक समस्या है। उसकी स्वतंत्रता भी एक समस्या है। उसके सोचने का तरीका भी एक समस्या है। वह जड़-वस्तु नहीं है, जिसे एक सांचे में ढाला जा सके। वह चेतन है, इसलिए हर कार्य में अपनी इच्छा का उपयोग करता है। उसका उपयोग अच्छे काम में भी हो सकता है और बुरे काम में भी हो सकता है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर समाज-व्यवस्था का सूत्रपात किया गया और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और इच्छा पर अंकुश लगाया गया। एक सिद्धांत बना कि स्वतंत्रता और इच्छा का अपने हित में उपयोग हो, किंतु दूसरे के अहित में उसका उपयोग न हो। इस सिद्धांत के आधार पर नैतिकता की आचार-संहिता का विकास हुआ। मनुष्य उस आचार-संहिता के पालन में भी अपनी स्वतंत्रता और इच्छा का उपयोग करने लगा। प्रत्येक बुराई को रोकने की व्यवस्था है, कानून है, दंड है। फिर भी बुराइयां चल रही हैं, बेईमानी बढ़ रही है। यह बिंदु है—पुनर्विचार का।

निष्कर्ष निकलता है कि आदमी भीतर से न बदले, चेतना का रूपांतरण न हो, तो बाहर से बदला-बदला-सा लग सकता है, पर वास्तव में बदलता नहीं। व्यवस्था बाहर पर नियंत्रण करती है, भीतर पर नियंत्रण करना उसके अधिकार में नहीं है। व्रत भीतर का अनुशासन है, इसीलिए अणुव्रत का स्वतंत्र मूल्य है। वह व्यवस्था का सहयोग करता है। व्यवस्था उसका सहयोग करती है, फिर भी अपने-अपने स्थान में दोनों स्वतंत्र हैं।

दोनों का योग हो सके तो तीसरी स्थिति का निर्माण हो सकता है। उस स्थिति को न आंतरिक कहा जा सकता है और न बाह्य। उसमें व्यक्ति को बदलने और समाज को संवारने की स्थिति बनती है। वहां न कोरा व्यक्तिवाद रहता है और न कोरा समाजवाद। व्यक्तिवाद और समाजवाद—दोनों की अपनी-अपनी सीमा है, फिर भी दोनों एक-दूसरे के बाधक नहीं, किंतु साधक होते हैं। इस स्थिति के निर्माण में सबका योग अपेक्षित है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-शिक्षा

अहिंसा और शिक्षा क्या अन्योन्याश्रित नहीं है? अहिंसक समाज-संरचना में शिक्षा की भूमिका को प्रमुखतः मानना होगा और इसलिए हमें शिक्षा के प्रश्न पर अपनी दृष्टि को भी काफी स्पष्ट कर लेना होगा, क्योंकि शिक्षा के सवाल को काफी पेचीदा बना दिया गया है। हमारे देश में शिक्षा को जहां बंधन-मुक्ति का आधार माना गया, वहीं वर्तमान में शिक्षित बेरोजगारों की लंबी फौज सामाजिक अशांति और विग्रह का कारण बनती जा रही है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि अहिंसक समाज-रचना की बात को केंद्र में रखकर शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया जाए और देखा जाए कि शिक्षित बेरोजगारों की बढ़ती हुई कतार अराजक तत्त्वों का गिरोह नहीं बन पाए।

शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का स्मरण हमें कर लेना चाहिए। कठोपनिषद में कहा गया है—'सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मुक्ति की ओर ले जाए।' इसी तरह हमारे अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी शिक्षा की परिभाषाएं की गई हैं। जैसे कि—'शिक्षा वह है जो मनुष्य को आत्मविश्वासी और स्वार्थहीन बनाए'। लेकिन हम देखते हैं कि आज स्थिति उलट है। आज प्रतिस्पर्द्धा की गला-काट होड़ चल रही है और शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में प्रतिस्पर्द्धा ही सर्वोपरि है। हमारे देश के वर्तमान कर्णधार एक ओर कहते हैं—'शिक्षा मूलतः वास्तविक अर्थों में सत्य की खोज है। यह ज्ञान और प्रकाश की अतंहीन यात्रा है। ऐसी यात्रा मानवतावाद के विकास के लिए ऐसे नए रास्ते खोलती है जहां ईर्ष्या, घृणा, संकीर्णता, शत्रुता और वैमनस्य को कोई स्थान नहीं हो।' वहीं, साथ में यह भी कह डालते हैं—'···ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल में प्रवेश के समय से ही बच्चों को प्रतिस्पर्द्धी बनाया जाना चाहिए।'

यदि बचपन से ही प्रतिस्पर्द्धा की भावना पैदा हो जाएगी तो आगे चलकर इसके नतीजे वे नहीं आएंगे जो अहिंसक जीवन शैली को पुष्ट बनाने वाले हों। प्रतिस्पर्द्धा अंततः एक ऐसी होड़ है जिसमें किसी को पछाड़ने की मंशा प्रमुख होती है। किसी को पछाड़ कर आगे बढ़ना किसी भी रूप में अहिंसक समाज-संरचना में सहायक नहीं हो सकता है। यदि हम अपने सामाजिक स्वरूप को पूर्णतः अहिंसक बनाना चाहते हैं तो प्रतिस्पर्द्धा की होड़ की जगह सह-जीवन और सामुदायिकता को मुख्य स्थान देना होगा। बचपन तो सभी का एक ही समान होता है। हम यह भी मानते हैं कि प्रतिभा भी हर एक में ही होती है। यह तो परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता ही होती है कि एक की प्रतिभा उभर कर सामने आ जाती है और दूसरे की दबी रह जाती है। तथापि यह भी माना जा सकता है कि नैसर्गिक तौर पर किसी में कमो-बेस अंतर भी रहता है, पर अवसर की एकरूपता और सहज-जीवन का संस्कार उस अंतर का असर समाप्त कर देता है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा को कोई स्थान हो—इस पर गहरे विचार-विमर्श की जरूरत है।

प्रौद्योगिकी के वर्तमान विकास ने भी प्रतिस्पर्द्धा और विषमता को घनीभूत किया है। इसके रहते अहिंसक समाज-संरचना कभी फलीभूत नहीं हो सकती। जिस शिक्षा को सत्य की खोज, ज्ञान और प्रकाश की अंतहीन यात्रा हम मानते हैं, वही शिक्षा ऐसी प्रौद्योगिकी का विकास करने में जुटी है जिससे सामाजिक विषमता व असंतुलन के उपकरण तैयार होते हैं। अतः शिक्षा के वर्तमान ढांचे को इस दृष्टि से समझना जरूरी है, नए सिरे से विचार तभी किया जा सकता है। यहां पर हमें यह देखना भी जरूरी है कि शिक्षा का वर्तमान ढांचा भी क्या सबके लिए समान अवसर उपलब्ध कराने में सक्षम है? यह नहीं है। इसका प्रमाण हाल ही (15 अगस्त, 04) में दिए

गए राष्ट्रपतिजी के संदेश से मिलता है। स्वाधीनता दिवस पर राष्ट्र के नाम संबोधन में राष्ट्रपतिजी ने माना है कि 30 करोड़, पचास लाख लोग ऐसे हैं जिन्हें साक्षर बनाने की जरूरत है। यानी कि करीब तीस प्रतिशत आबादी तो अभी पूरी तरह निरक्षर ही है। राष्ट्रपतिजी आगे बताते हैं कि 39 प्रतिशत स्कूली बच्चे पांचवीं कक्षा तक और 55 प्रतिशत बच्चे आठवीं कक्षा तक आते-आते स्कूल छोड़ देते हैं। स्पष्ट है कि कुल पैंतालीस प्रतिशत विद्यार्थी ही उच्च माध्यमिक या उससे आगे की पढ़ाई कर पाते हैं। जाहिर है कि शिक्षा का वर्तमान ढांचा सबके लिए समान अवसर ही उपलब्ध नहीं करा पा रहा। प्रकारांतर से यह भी माना जाना चाहिए कि शिक्षा के वर्तमान स्वरूप के चलते सामाजिक विषमता और असंतुलन नहीं मिटाया जा सकता और इसी के चलते अहिंसक समाज-निर्माण भी आसान प्रतीत नहीं होता।

शिक्षा के वर्तमान स्वरूप का एक दूसरा पक्ष भी हमारे सामने विचारणीय होना चाहिए। यदि हम अहिंसक समाज के निर्माण में शिक्षा की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो हमें शिक्षा के पाठ्यक्रम, भाषा और शिक्षण विधि पर भी विचार करना जरूरी है। स्कूल में अध्यापक के हाथ में डंडा हो, उनके व्यवहार में वर्जना हो और हमारे पाठ्यक्रम में वैमनस्य व विषमता पैदा करने वाली घटनाएं, तथ्य और किस्से हों—तो कैसा समाज बनेगा, यह हमें सोच लेना चाहिए। हम कैसी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं? वे शब्द और चित्र, जो प्रकारांतर से हिंसक मनोवृत्ति को प्रश्रय देते हों या उस ओर आकर्षित करते हों—क्या हम प्रयोग करते चले जाएं? खासतौर से ये बातें बालमन पर कैसा प्रभाव छोड़ती हैं, इस पर गंभीरता से सोचा जाना चाहिए। क्या इन सबसे हिंसा का बीज-वपन बचपन से ही नहीं हो जाता? इस तरह हमें मानना होगा कि अहिंसा और शिक्षा के मध्य ऐसे अटूट तार जुड़े हैं जिनसे निकलने वाली ऊर्जा संपूर्ण जन-मानस को प्रभावित करती है। इन बिंदुओं पर सतही विचार नहीं, गंभीर विमर्श की आवश्यकता है।

स्वाधीनता के बाद हमारे देश में कई शिक्षा आयोग स्थापित हुए और उनके परामर्श सामने आए। इससे पहले राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी 'बुनियादी तालीम' के रूप में अपना शिक्षा दर्शन समाज के सामने रखा था। पिछले दशकों में आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञजी जैसे अध्यात्म-पुरुषों ने भी 'जीवन-विज्ञान' के रूप में अपना शिक्षा दर्शन प्रस्तुत किया और 'प्रेक्षा-ध्यान' जैसे प्रयोगों के माध्यम से समूचे समाज को शारीरिक-मानसिक व्याधि से मुक्त करने का मार्ग सुझाया। अलबत्ता शिक्षा के प्रश्न पर गंभीर विचार-मंथन की अभी भी जरूरत महसूस की जा रही है। इस विचार-मंथन में ये सभी पक्ष सम्मिलित हों और शिक्षा के क्षेत्र में कार्यशील विचारकों को इस दिशा में पहल करनी चाहिए।

किसी भी पटल पर यदि यह विचार-मंथन हो सके तो यह एक बड़ा सामाजिक हित होगा। निश्चय ही ऐसे विचार-मंथन में 'अहिंसा-दृष्टि' केंद्र में रहेगी, क्योंकि भारतीय मानस अंततः जिस मानसिकता का है उसमें उसके आत्म-विश्वासी होने, स्वार्थहीन होने और मुक्ति की ओर ले जाने की दृष्टि निहित है। भारतीय मानस की इस दृष्टि में यह विकृति आखिरकार क्यों और कैसे आई, इस पर फिलहाल कुछ न कहकर हमें यह विचार अवश्य कर लेना चाहिए कि इस विकृति से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी दो दृष्टिकोणों की बात करते हैं—निषेधात्मक दृष्टिकोण और विधायक दृष्टिकोण। वे कहते हैं—'निषेधात्मक दृष्टिकोण आदमी को हिंसा की ओर ले जाता है। घृणा, ईर्ष्या, भय, काम-वासना—ये सब निषेधात्मक दृष्टिकोण हैं।' विधायक दृष्टिकोण के विकास के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अहिंसा और सह-अस्तित्व को जरूरी मानते हैं। वे कहते हैं—'आश्वास, विश्वास और अभय के वातावरण का विकास करना चाहिए।' ऐसा करने के लिए वे प्रशिक्षण और प्रयोग की जरूरत बतलाते हैं। वे बतलाते हैं—'परस्परता की अनुभूति, मानवीय एकता की अनुभूति, आश्वास, विश्वास और अभय—ये सह-अस्तित्व के आधार सूत्र हैं। जब ये शिक्षा के अंग बनेंगे, तभी सह-अस्तित्व का वातावरण बनेगा। जब सह-अस्तित्व का विकास होगा तब सामाजिक समस्याओं का समाधान स्वतः उपलब्ध हो जाएगा।'

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अहिंसा और शिक्षा का अन्योन्याश्रित संबंध है और अहिंसक समाज-संरचना की जब भी बात करेंगे तो शिक्षा का पक्ष स्वतः ही आ जाएगा। वैसी शिक्षा मनुष्य को शुरू से ही स्वावलंबी बनाने वाली शिक्षा होगी। उस शिक्षा के जरिए एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण होगा जो संपूर्णतः मानवीय और प्राकृतिक परिवेश में रचा-पचा होगा, जिसकी दृष्टि जीवन की समग्रता को पहचान सकने की क्षमता रखने वाली होगी।

—शुभू पटवा

विमर्श

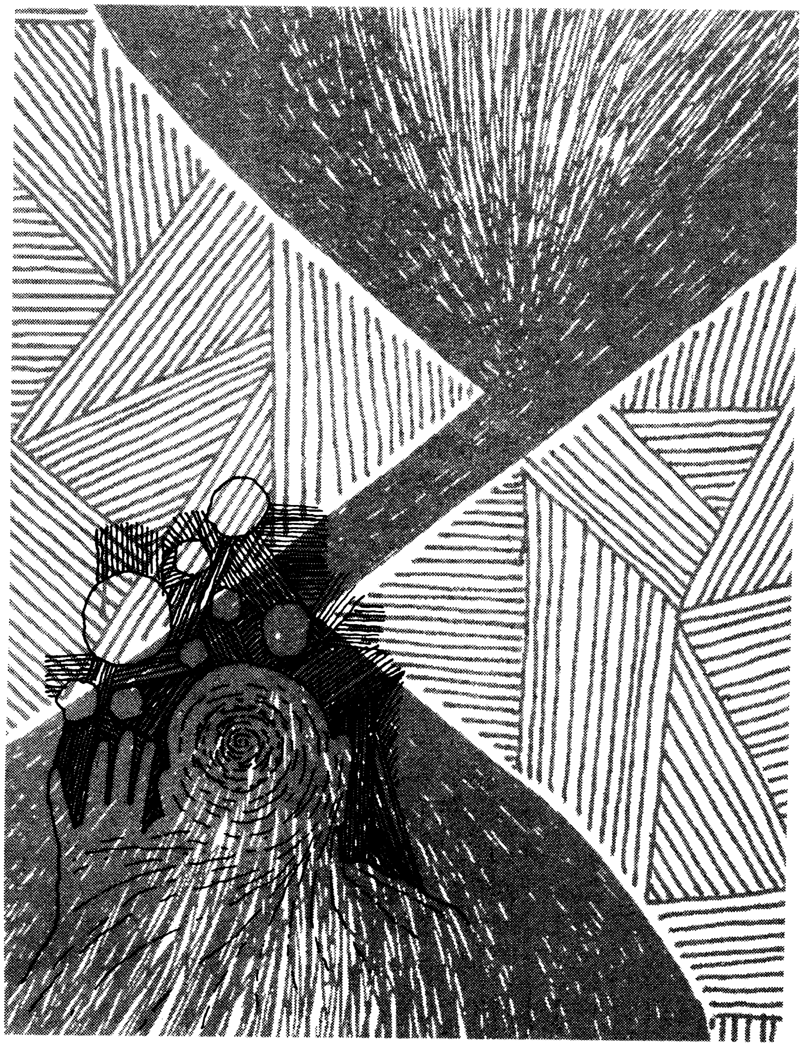

दरअसल विचार न तत्त्वान्वेषण है, न सत्यान्वेषण। विचार अपने अनुभव के प्रति जागरूकता है। यह जागरूकता ऐसी है कि बात किसी भी क्षेत्र की हो—कर्म की, ज्ञान की, भावना की—बात को परखने के लिए अनुभव मेरा निकष है। उस निकष पर मैं विचार को कसता रहता हूं। और चूंकि अनुभव के साथ मैं बदलता भी रहता हूं, चारों तरफ देखता रहता हूं, दूसरों से सीखता रहता हूं—इसलिए मैं अपने साथ अपने विचार में भी परिवर्तन पाता हूं। गांधीजी ने कहा था—'सत्य के प्रयोग'। जो आदमी प्रयोग नहीं करता—अपने साथ—वो मेरी समझ में आदमी नहीं है।

—प्रो. दयाकृष्ण

धर्म—प्रवृत्ति-रूप; निवृत्ति-रूप

राग-परिणति हिंसा है, द्वेष-परिणति हिंसा है, वीतराग-परिणति अहिंसा है। हिंसा अधर्म है, अहिंसा धर्म है। राग-द्वेष असंयम है, वीतराग-भाव संयम है। असंयम अधर्म है, संयम धर्म है। धर्म प्रवृत्ति-रूप भी होता है और निवृत्ति-रूप भी। केवल प्रवृत्ति ही हिंसा नहीं, निवृत्ति भी हिंसा होती है। केवल निवृत्ति ही अहिंसा नहीं, प्रवृत्ति भी अहिंसा होती है। आत्यंतिक निवृत्ति शरीर-मुक्त और कर्म-मुक्त दशा में होती है। इससे पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष होती हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति होती है, दूसरे से निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष में प्रवृत्ति होती है, वीतराग-भाव की निवृत्ति हो जाती है। वीतराग-भाव में प्रवृत्ति होती है, राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति और वीतराग-भाव की निवृत्ति—दोनों अधर्म हैं, असंयम हैं। वीतराग-भाव की प्रवृत्ति और राग-द्वेष की निवृत्ति—ये दोनों धर्म हैं, संयम हैं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म का आधार कर्मवाद है। कर्मवाद की दो शाखाएं हैं—1. त्रिवर्गवादी, 2. पुरुषार्थ-चतुष्ट्यवादी।

धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थों को स्वीकार करने वाली शाखा में मोक्ष का स्थान नहीं है। इसी का नाम प्रवर्तक धर्म है। इसका चरमसाध्य स्वर्ग है। इसके अनुसार धर्म, शुभ कार्य या पुण्य का फल स्वर्ग है। अधर्म, अशुभ कर्म या पाप का फल नर्क है। इन्हीं के द्वारा जन्म-मरण की परंपरा चलती है। इस परंपरा में धर्म या पुण्य हेय नहीं है। इसमें धर्म का आधार शिष्ट समाजसम्मत आचार है। इसके धार्मिक विधान स्वर्गलक्षी हैं।

दूसरी परंपरा निवर्तक धर्म की है। इसका साध्य मोक्ष है। इसमें धर्म और पुण्य एक नहीं है। धर्म, आत्मा की शुद्ध परिणति है और पुण्य कर्म-बंधन है। पुण्य बंधन है इसलिए हेय है। पुण्य का फल स्वर्ग आदि शुभ भोग है, किंतु वह मोक्ष का बाधक है। यह मोक्षार्थी के लिए वांछनीय नहीं। आचार्य कुंदकुंद के शब्दों में—'पुण्य संसार-भ्रमण का हेतु है। जो इसकी इच्छा करते हैं, वे परमार्थ को नहीं समझते, मोक्ष-मार्ग को नहीं जानते।' फल की दृष्टि से पुण्य और पाप में अंतर है। पुण्य का फल शुभ-भोग है, पाप का अशुभ-भोग। किंतु मोक्ष के साधन ये दोनों नहीं हैं, इसलिए पुण्य के फल भी तत्त्व-दृष्ट्या दुख ही हैं। चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति आदि-आदि पुण्य के फल निश्चय दृष्टि से दुख ही हैं। इसीलिए आचार्य योगीन्दु कहते हैं—'हमारे पुण्य का बंधन हो, क्योंकि पुण्य से धन मिलता है, धन से मद होता है, मद से मति-मोह और मति-मोह से पाप। यह क्रम उन्हीं के होता है, जो पुण्य की इच्छा से धर्माचरण करते हैं। जो आत्म-शुद्धि के लिए धर्माचरण करते हैं, उनके अवांछित पुण्य का बंध हो जाता है। किंतु वह व्यक्ति को दिग्मूढ़ नहीं बनाता, फिर भी वह साधन जन्म-मृत्यु की परंपरा का ही है, मोक्ष का नहीं। जीव संसार-भ्रमण करता है, उसका कारण शुभ-अशुभ कर्म ही है। मोक्ष शुभ-अशुभ कर्म नष्ट होने से ही होता है। कर्म से कर्म का नाश नहीं होता, कर्म का नाश अकर्म से होता है। मोक्ष तब हो, जब नए कर्म—पुण्य और पाप दोनों न लगें। प्रवर्तक धर्म के अनुसार धर्म और पुण्य दोनों एक हैं। निवर्तक धर्म में ये दोनों दो हो जाते हैं। पुण्य का अर्थ है, शुभ कर्म का बंधन और धर्म का अर्थ है बंधन-मुक्ति का साधन। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। बंधन के साधन से मुक्ति नहीं हो सकती और मुक्ति के साधन से बंधन नहीं हो सकता।

धर्म की शुभ प्रवृत्त्यात्मक स्थिति में होने वाला बंधन पुण्य का होता है। इस साहचर्य के उपचार से कहा जाता है कि धर्म से पुण्य होता है, किंतु वास्तव में धर्म मुक्ति का ही हेतु है—उससे बंधन नहीं होता। पुण्य बंधन है, इसलिए हेय है। नव पदार्थों में जीव और अजीव ज्ञेय, पुण्य, पाप, बंध और आस्रव हेय तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष—तीन

उपादेय हैं। निश्चय दृष्टि में पुण्य और पाप दोनों हेय हैं, फिर भी मोह से प्रभावित व्यक्ति पुण्य को उपादेय मानते हैं और पाप को हेय। परंपरा से पुण्य मोक्ष का कारण बन सकता है, फिर भी वह न स्वयं उपादेय है और न उससे कुछ उपादेय कार्य सधता है। पाप भी मोक्ष के परंपर कारण बन सकते हैं। इसीलिए योगींदु कहते हैं—'जिन कष्टों के कारण जीवन में मुक्ति की भावना पैदा हो, वे कष्ट उन सुखों की अपेक्षा अच्छे हैं, जो जीव को विषय में फंसाते हैं।' आत्म-दर्शन की जिज्ञासा को पुण्य और पाप दोनों पूर्ण नहीं कर सकते। इस परमार्थ-दृष्टि से वे दोनों समान हैं।

और क्या पुण्य की इच्छा करने से पाप का बंध होता है? पुण्य की इच्छा करने वाला वास्तव में काम-भोग की इच्छा करता है। इसलिए पुण्य की इच्छा रखते हुए धर्माचरण करने का निषेध किया है।

प्रवर्तक और निवर्तक धर्म : स्वरूप और फलित

राग-परिणति हिंसा है, द्वेष-परिणति हिंसा है, वीतराग-परिणति अहिंसा है। हिंसा अधर्म है, अहिंसा धर्म है। राग-द्वेष असंयम है, वीतराग-भाव संयम है। असंयम अधर्म है, संयम धर्म है। धर्म प्रवृत्ति-रूप भी होता है और निवृत्ति-रूप भी। केवल प्रवृत्ति ही हिंसा नहीं, निवृत्ति भी हिंसा होती है। केवल निवृत्ति ही अहिंसा नहीं, प्रवृत्ति भी अहिंसा होती है। आत्यंतिक निवृत्ति शरीर-मुक्त और कर्म-मुक्त दशा में होती है। इससे पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष होती हैं। एक कार्य में प्रवृत्ति होती है, दूसरे से निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष में प्रवृत्ति होती है, वीतराग-भाव की निवृत्ति हो जाती है। वीतराग-भाव में प्रवृत्ति होती है, राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है। राग-द्वेष की प्रवृत्ति और वीतराग-भाव की निवृत्ति—दोनों अधर्म हैं, असंयम हैं। वीतराग-भाव की प्रवृत्ति और राग-द्वेष की निवृत्ति—ये दोनों धर्म हैं, संयम हैं।

आत्मलक्षी प्रवृत्ति विधायक अहिंसा है। संसारलक्षी या पर-पदार्थलक्षी प्रवृत्ति की विरति निषेधात्मक अहिंसा है। धर्म का आधार आत्मा और कर्म है। आत्मा चैतन्य स्वरूप है और कर्म अचेतन—पौद्गलिक है। इन दोनों का संयोग बंधन है और वियोग मुक्ति। बंधन के कारण हैं—राग और द्वेष। निवृत्त आत्मा कर्मों को नहीं बांधती। प्रवृत्त आत्मा से वे बंधते हैं। आत्मा की प्रवृत्ति राग-द्वेष-प्रेरित होती है, तब अशुभ कर्म बंधते हैं। उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेष-अप्रेरित होती है, तब निर्जरा होती है और शुभ कर्मों का बंध होता है। ज्यों-ज्यों संवर (निवृत्ति) बढ़ता है, त्यों-त्यों कर्म-बंध शिथिल हो जाता है। वह (संवर) जब समग्र हो जाता है, तब कर्म-बंध सर्वथा रुक जाता है, पहले के कर्म-बंधन टूट जाते हैं और आत्मा मुक्त बन जाती है।

प्रवर्तक-धर्म में स्वर्ग का जो महत्त्व है, वह निवर्तक-धर्म में नहीं। उसमें मुक्ति का महत्त्व है। स्वर्ग भी संसार-भ्रमण का अंग है। उसे पा लेने पर भी जन्म-मृत्यु की परंपरा समाप्त नहीं होती। उसकी समाप्ति असंयमी जीवन और प्राणधारणात्मक जीवन के प्रति मोह-त्याग करने से होती है। संक्षेप में, निवर्तक-धर्म का स्वरूप और लक्ष्य इस प्रकार हैं—1. आत्म-स्वभाव में परिणति धर्म, 3. आत्म-स्वभाव में परिणत होने का साधन धर्म। 3. वही साधन धर्म है जो साधकतम हो, अनंतर हो। 4. धर्म का लक्ष्य—मुक्ति (विदेह-दशा)। 5. आत्मा और देह का संयोग—प्रवृत्ति। 6. शरीरोन्मुखी या असंयमोन्मुखी प्रवृत्ति—बंध-हेतु। 7. आत्मोन्मुखी या संयमोन्मुखी प्रवृत्ति—मोक्ष-हेतु। 8. आत्मा और देह का वियोग—निवृत्ति।

प्रवर्तक धर्म की तुलना में

निवर्तक धर्म का फलित रूप अध्यात्मवाद है। उसके फलाफल की एकमात्र कसौटी अहिंसा और हिंसा का विचार है। प्रवर्तक धर्म का फलित रूप है—मानवतावाद। उसकी फलाफल निर्णायक दृष्टि अहिंसा और हिंसा की अपेक्षा मानव-सेवा पर अधिक निर्भर है।

निवर्तक धर्म प्राणीमात्र समभावी है, इसलिए वह सब स्थितियों में मानव को सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। प्रवर्तक धर्म में मानव के सामने शेष सब गौण होते हैं। दोनों का उद्गम एक नहीं है। इनमें स्वरूप, लक्ष्य और साधना का मौलिक भेद है।

धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

भगवान महावीर ने तीन प्रकार के व्यवसाय बतलाए हैं—1. लौकिक, 2. वैदिक, 3. सामयिक।

लौकिक व्यवसाय के तीन भेद हैं—धर्म, अर्थ और काम। यहां धर्म शब्द का अर्थ है—समाज-कर्तव्य। अर्थ और काम जैसे लौकिक होते हैं, वैसे यह धर्म भी लौकिक है। मोक्ष-धर्म के तीन भेद—ज्ञान, दर्शन और चारित्र—सामयिक व्यवसाय के अंतर्गत किए हैं। समाज-कर्तव्य के लिए 'लौकिक धर्म' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में भी हुआ है। मनुस्मृति में जाति-धर्म, वैश्य-धर्म, कुल-धर्म, देश-धर्म, राज्य-धर्म आदि अनेक प्रकार के धर्म बताए हैं।

प्रमाण मीमांसा में आप्त यानी विश्वासी पुरुष के दो भेद हैं— लौकिक और लोकोत्तर। पौराणिक साहित्य में भक्ति तीन प्रकार की बताई है—लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक भक्ति को ही 'पराभक्ति' माना है।

लौकिक

गाय के घी, दूध और दही, रत्न, दीप, कुश, जल, चंदन, माला, विविध धातुओं तथा पदार्थों से कलित, अगर की सुगंध से युक्त एवं घी और गुग्गुल से बने हुए धूप, आभूषण, स्वर्ण और रत्न आदि से निर्मित हार, नृत्य, वाद्य और संगीत, सब प्रकार के जंगली फल-फूलों का उपहार तथा भक्ष्य, भोज्यादि नैवेद्य अर्पण करके मनुष्य ब्रह्माजी को उद्दिष्ट कर जो पूजा करता है, वह लौकिक भक्ति मानी गई है।

वैदिक

ऋग् आदि वेद-मंत्रों का जप, संहिताओं का अध्यापन आदि कार्य ब्रह्माजी के उद्देश्य से किए जाते हैं— वह वैदिक भक्ति है।

आध्यात्मिक

इसके दो भेद हैं—सांख्यज और योगज।

सांख्यज—संख्यापूर्वक प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को ठीक-ठाक जानना।

योगज—प्राणायामपूर्वक ध्यान, इंद्रियों का संयम और मन को समस्त इंद्रियों के विषयों से हटाकर ब्रह्म-स्वरूप का चिंतन करना। यही ब्रह्माजी के प्रति 'पराभक्ति' मानी गई है।

स्थानांग में दस प्रकार के धर्म बताए हैं—1. ग्राम-धर्म—गांव का आचार या व्यवस्था अथवा विषय-भोग की अभिलाषा। 2. नगर-धर्म—नगर की व्यवस्था। 3. राष्ट्र-धर्म—राष्ट्र की व्यवस्था। 4. पाखंड-धर्म—श्रमणों का आचार। 5. कुल-धर्म—कुल की व्यवस्था। 6. गण-धर्म—गण की व्यवस्था। 7. संघ-धर्म—संघ की व्यवस्था। 8. श्रुत-धर्म। 9. चारित्र-धर्म। 10. अस्तिकाय-धर्म।

इनमें आत्म-संशोधक धर्म के सिवा गांव, नगर, राष्ट्र आदि के आचार, व्यवस्था आदि को धर्म कहा गया है। यशस्तिलकचंपू में सोमदेवसूरि धर्म के दो भेद मानते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। इंद्रनंदी-संहिता में भी धर्म के लौकिक और लोकोत्तर—ये दो भेद माने गए हैं। बाह्य-शुद्धि के लिए लौकिक और आभ्यंतर-शुद्धि के लिए लोकोत्तर धर्म बताया है। दशवैकालिक निर्युक्ति में गम्य-धर्म, पशु-धर्म, पुरवर-धर्म, ग्राम-धर्म, गोष्ठी-धर्म, गण, राज्य आदि के धर्म को लौकिक धर्म कहा है।

चार पुरुषार्थ में धर्म और मोक्ष अलग-अलग हैं। वे धर्म के दो रूप—लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म की ओर संकेत जताते हैं। लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य (पृ. 64-66) में इसका सुंदर विवेचन किया है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है :

'....राजधर्म, देशधर्म, प्रजाधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, मित्रधर्म इत्यादि सांसारिक नीति बंधनों को भी धर्म कहते हैं।'

'पारलौकिक धर्म को मोक्ष-धर्म अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा केवल नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं।....महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है; और, जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म-संगत है', उस स्थान में धर्म से कर्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्थाशास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है, तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है उस स्थान पर अर्थात् शांतिपर्व के उत्तरार्द्ध में मोक्षधर्म इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है।'

बौद्ध-प्रवचन में धर्म शब्द

बौद्ध दर्शन में धर्म शब्द इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है :

1. स्व-लक्षण धारण। 2. कुगति-गमन-विधारण। 3. पांचगतिक संसार-गमन-विधारण। पहले में सास्रव और अनास्रव—सभी कार्य धर्म कहलाते हैं। इसकी वस्तु-स्वभाव धर्म के साथ तुलना होती है। दूसरे में 'दश कुशल' को धर्म कहा गया है। तीसरे में धर्म का अर्थ है—निर्वाण।

अश्वघोष ने धर्म की द्विविधता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, कहा है—

'उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय! मृत्युभीत! वरस्व धर्मं, त्यज मोक्षधर्मम्।'

यहां बुद्ध को मोक्ष-धर्म को छोड़ क्षात्र-धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा दी जा रही है।

गीता में जाति-धर्म, कुल-धर्म आदि प्रयोग मिलते हैं। अर्जुन ने धर्म का प्रयोग रीति-रिवाज के अर्थ में किया है। कृष्ण ने धर्म का प्रयोग कर्तव्य के अर्थ में किया है।

मनुस्मृति में दंड को धर्म कहा गया है :

दण्ड शास्ति प्रजाः सर्वाः, दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति, दण्डं दर्म विदुर्बुधाः॥

महर्षि पाणिनि ने धर्म के दो अर्थ प्रस्तुत किए हैं—नीति-धर्म और विधि-धर्म।

'धर्मं चरित धार्मिकः'—यहां धर्म शब्द का प्रयोग नीति-धर्म के अर्थ में है।

शुल्कशाला पर चुंगी लगती थी, उसे धर्म्य कहा जाता था—'शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम्'। यहां धर्म शब्द का प्रयोग विधि-धर्म के अर्थ में है।

स्थानांग में दस प्रकार के श्रमण-धर्म का उल्लेख मिलता है। वे आत्म-धर्म के विभिन्न रूप हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—1. क्षमा, 2. मुक्ति, 3. आर्जव, 4. मार्दव, 5. लाघव, 6. सत्य, 7. संयम-त्याग, 8. ब्रह्मचर्य, 9. आकिंचन्य, 10. शौच।

मनुस्मृति में भी दस प्रकार के धर्म उल्लिखित हैं। ये हैं—1. धृति, 2. क्षमा, 3. दम, 4. अस्तेय, 5. शौच, 6. इंद्रिय-निग्रह, 7. धी, 8. विद्या, 9. सत्य, 10 अक्रोध।

संक्षेप में आत्म-धर्म के दो प्रकार हैं—श्रुत और चारित्र। श्रुत और चारित्र ऐकांतिक और आत्यंतिक सुख के निश्चित उपाय हैं, इसलिए निरुपचरित धर्म हैं। सामाजिक सुख के अर्थ में धर्म शब्द उपचरित है।

आत्म-धर्म और लोक-धर्म

संयम और तपस्या—ये दोनों आत्म-धर्म हैं, अथवा यह कहना चाहिए कि मुनि-धर्म—आत्म-धर्म है। मुनि आत्म-धर्म के लिए प्रव्रजित होता है। गृहस्थ का आत्म-धर्म मुनि-धर्म का ही अंग है। वह उससे पृथक् नहीं है। अणुव्रत महाव्रत की ही स्थूल आराधना है।

आत्म-धर्म मोक्ष की साधना है और लोक-धर्म व्यवहार का मार्ग है। जो मोक्ष की साधना में विश्वास नहीं करते, उनके लिए आत्म-धर्म और लोक-धर्म—ऐसे दो विभाग आवश्यक नहीं होते। किंतु जो आत्मवादी हैं, संसार से मोक्ष की ओर प्रगति करना, बंधन से मुक्ति की ओर जाना जिनका लक्ष्य है, वे संसार और मोक्ष की साधना का विवेक किए बिना चल ही नहीं सकते। मुनि केवल आत्म-धर्म की साधना के लिए चलते हैं। गृहस्थ समाज की शृंखला से बंधा हुआ होता है, इसलिए वह केवल आत्म-धर्म का पालन करने वाला ही नहीं होता, वह लोक-धर्म की मर्यादाओं को भी निभाता है। कुमार ऋषभ के विवाह का प्रसंग देखिए। आचार्य जिनसेन लिखते हैं—

पश्यन् पाणिगृहीत्यौ ते, नाभिराजः सनाभिभिः।
समं समतुषत् प्रायः, लोकधर्मप्रियो जनः॥

'महाराज नाभिराज अपने परिवार के लोगों के साथ दोनों पुत्र-बंधुओं को देखकर भारी संतुष्ट हुए—सो ठीक ही है। क्योंकि संसारीजनों को विवाह आदि लोक-धर्म ही प्रिय होता है।'

कुमार ऋषभ से विवाह करने के लिए प्रार्थना करते समय कहा जाता है—

प्रजासन्तत्यविच्छेदे, तनुते धर्मसंततिः।
मनुष्व मानवं धर्मं, ततो देवेममच्युतः॥

'प्रजा की संतति का उच्छेद नहीं होने पर धर्म की संतति बढ़ती रहेगी, इसलिए हे देव! मनुष्यों के इस अविनाशिक विवाह रूपी धर्म को अवश्य ही स्वीकार कीजिए।'

देवेमं गृहिणां धर्मं, विद्धि दारपरिग्रहम्।
सन्तानरक्षणे यत्नः, कार्यो हि गृहमेधिनाम्॥

'हे देव! आप इस विवाह-कार्य को गृहस्थों का एक धर्म समझिए। क्योंकि गृहस्थों को संतान की रक्षा में प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिए।'

इस प्रसंग में आए हुए लोक-धर्म, मानव-धर्म और गृहि-धर्म—तीनों शब्द ध्यान देने योग्य हैं। बहुधा कहा जाता है—आत्म-धर्म और लोक-धर्म, ऐसे दो भेद तेरापंथ के आचार्यों ने—विशेषतः आचार्यश्री तुलसी ने किए हैं। उन्हें आचार्य जिनसेन (जो विक्रम की सातवीं सदी में हो चुके हैं) के शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। कोई भी जैनाचार्य विवाह को धर्म नहीं मानते। लोक-दृष्टि से वह बुरा कार्य भी नहीं है, इसलिए उसे लोक-धर्म कहा गया है। आचार्य हेमचंद्र इसे व्यवहार-पथ कहते हैं—

तथापि नाथ! लोकानां, व्यवहारपथोऽपि हि।
त्वयैव, मोक्षवर्त्मेव, सम्यक् प्रकटयिष्यते॥

तल्लोकव्यवहाराय, पाणिग्रह-महोत्सवम्।
विधीयमान भवतेच्छामि नाथ! प्रसीद मे॥

श्रीमद् राजचंद्र ने आत्म-हित और शरीर-हित की बड़े मार्मिक शब्दों में विश्लेषणा की है। महात्माजी ने उसे पूछा—'सर्प काटने आए तो उस समय हमें स्थिर रहकर उसे काटने देना उचित है या मार डालना?'

श्रीमद् राजचंद्र ने उत्तर दिया—'इस प्रश्न का मैं उत्तर दूं कि सर्प को काटने दो तो बड़ी समस्या आकर उपस्थित होती है। तथापि हमने जब यह समझा है कि 'शरीर अनित्य है', या फिर इस असार शरीर की रक्षार्थ उसे मारना क्यों उचित हो सकता है—जिसकी कि शरीर में प्रीति है, मोह-बुद्धि है?

'जो आत्महित के इच्छुक हैं, उन्हें तो यही उचित है कि वे शरीर से मोह न कर उसे सर्प के अधीन कर दें। अब यह पूछा जाएगा कि जिसे आत्महित न करना हो, उसे क्या करना चाहिए? उसके लिए यही उत्तर है कि उसे नरकादि कुगतियों में परिभ्रमण करना चाहिए। उसे यह उपदेश कैसे दिया जा सकता है कि वह सर्प को मार डाले। अनार्य वृत्ति के द्वारा सर्प को मारने का उपदेश किया जाता है, पर हमें तो यही इच्छा करनी चाहिए कि ऐसी वृत्ति स्वप्न में भी न हो।'

अध्यात्म-धर्म और लोक-धर्म का पृथक्करण

आचार्य भिक्षु ने जो दृष्टिकोण दिया उसमें समस्याओं का बौद्धिक समाधान सन्निहित है। इसलिए वे सही अर्थ में धर्मक्रांति के महान् सूत्रधार थे। समाजधारणा के और आत्म-साधना के धर्म को एक मानने के कारण जो जटिल स्थितियां पैदा होती हैं, उनका सही समाधान इनका पृथक्करण ही है। आज का बुद्धिवादी वर्ग इस विभाजन को बड़ी सरलता से मान्य करता है। पं. लक्ष्मण शास्त्री तर्कतीर्थ ने श्री ह. कृ. मोहिनी के इस पृथकतावादी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए लिखा है—'इस बंटवारे को हम भी पसंद करते हैं। धर्म अर्थात् समाज-धारण के नियम अथवा सामाजिक जीवन के कानून-कायदे। ये कायदे समाज-संस्था के प्राण होते हैं। इसलिए पूर्व-मीमांसा समाज-धारणाशास्त्र है। यह आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग और मोक्ष का विचार करता है। उत्तर-मीमांसा अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्म वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक। यज्ञ-संस्कार, वर्णाश्रम धर्म समाज-धारक धर्म हैं। समाज-धारणाशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र—इन दोनों की पूरी फारखती हो जानी चाहिए।'

महात्मा गांधी भी राष्ट्र की नीति या व्यवस्था को धर्म का चोगा नहीं पहनाते थे। उन्होंने 'हरिजन' में लिखे एक लेख में बताया है—'यदि मैं तानाशाह होता तो धर्म और राष्ट्र को अलग-अलग कर देता। मैं शपथ के साथ कह सकता हूं कि धर्म के लिए मरने को तैयार हूं, परंतु यह मेरा व्यक्तिगत मामला है। उसका राष्ट्र से कोई संबंध नहीं है।'

एक प्रचारक मित्र (पादरी) के प्रश्न के उत्तर में यह विचार महात्मा गांधी द्वारा प्रकट किया गया। उक्त मित्र पादरी ने प्रश्न किया था कि क्या स्वतंत्र भारत में पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता होगी? और क्या धर्म-राष्ट्र आपके स्वास्थ्य, यातायात, विदेश संबंधी, मुद्रा आदि अनेक बातों की देखभाल करेगा और क्या मेरे या आपके धर्म की देखभाल नहीं करेगा?

धर्म शब्द के प्रयोगों की जटिलता के कारण ही मोक्ष-धर्म का लक्षण लोक-धर्म से भिन्न करना पड़ा। थोड़े में वह है—आत्मा का वीतराग-भाव या भाव-विशुद्धि। ❖

विज्ञान और तकनीकी प्रगति उसी समाज में पनपती है जिस में जिज्ञासा और वर्तमान स्थिति की सीमा से उबरने की प्रेरणा उपस्थित हो। धर्म इस प्रेरणा में बाधक होता है जब वह आर्थिक गरीबी से टूटे हुए मनोबल को परमसंतोष के रस में पाग देता है, जो परिरक्षक (प्रिजर्वेटिव) का काम करता है। धर्म अपने मूल रूप में ऐसा इरादा न रखता हो, पर उसका प्रचारित रूप यह हानि पहुंचा सकता है। अतः आवश्यक हो जाता है कि पंडित और दार्शनिक नई व्याख्या प्रस्तुत करें और हो सके तो नए दर्शन का प्रतिपादन करें। ऐसा नहीं हुआ तो एक-दो कटु अनुभव के बाद समाज प्रगति और जिज्ञासा का मार्ग त्याग देगा। जो समाज शौर्य, बल और राजा को किन्हीं कारणोंवश महत्त्व देने का आदी रहा है, वह उनके कमजोर पड़ जाने पर असुरक्षित महसूस करता है, और अपने परिरक्षण के लिए, परंपरावादी धर्म का आश्रय ढूंढ़ता है, या स्वार्थी हो रंग-रेलियों में अपने को भुलाने की कोशिश करता है। कभी-कभी धर्म अपने अंदर रंग-रेलियों को समाहित कर लेता है। तब वह ऐसे नशे का काम करता है जो असंतोष और जिज्ञासा को पास फटकने नहीं देता। अतः प्रगति में बाधक होता है।

—विपिनकुमार अग्रवाल

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

जीवन में धर्म और सामाजिक परंपरा की श्रेष्ठता दार्शनिक ज्ञान के मुक्त अनुसरण में बाधक नहीं होती। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, किंतु फिर भी एक प्रकट सत्य है, क्योंकि जहां एक ओर किसी व्यक्ति का सामाजिक जीवन जन्मगत जाति की कठिन रूढ़ि से जकड़ा हुआ है वहां उसे अपना मत स्थिर करने में पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी संप्रदाय में जन्मा हो, तर्क द्वारा उस संप्रदाय की समीक्षा कर सकता है। यही कारण है कि भारतभूमि में विधर्मी या धर्मभ्रष्ट, संशयवादी, नास्तिक, हेतुवादी एवं स्वतंत्र विचारक, भौतिकवादी एवं आनंदवादी—सभी फलते-फूलते रहे हैं। महाभारत में कहा है : 'ऐसा कोई मुनि नहीं जो अपनी भिन्न सम्मति न रखता हो।'

डॉ. राधाकृष्णन

भारत में दर्शनशास्त्र मूलभूत रूप से आध्यात्मिक है। भारत की प्रगाढ़ आध्यात्मिकता ने ही, न कि उसके द्वारा विकसित किसी बड़े राजनीतिक ढांचे या सामाजिक संगठन ने, इसे काल के विध्वंसकारी प्रभावों और इतिहास की दुर्घटनाओं को सहन कर सकने की सामर्थ्य प्रदान की। भारत के इतिहास में कई बार बाह्य आक्रमणों और आंतरिक फूट ने इसकी सभ्यता और संस्कृति को नष्टप्राय करने का प्रयास किया। यूनानियों और सीथियनों ने, फारसवासियों और मुगलों ने, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने क्रमशः इस सभ्यता को दबाने का प्रयत्न किया, और फिर भी इसने अपना मस्तक ऊंचा रखा है। भारत पूरे तौर से कभी पराजित नहीं हुआ और इसकी आत्मा की वह पुरातन लौ आज भी प्रकाशमान है। अपने अब तक के संपूर्ण जीवन में भारत का एक ही उद्देश्य रहा है, वह है सत्य का संस्थापन और असत्य का प्रतिकार। इसने त्रुटि भले ही की हो किंतु इसने वही किया जिसके योग्य इसने अपने-आप को समझा और जिसकी इससे आशा की गई। भारतीय विचारधारा के इतिहास में मस्तिष्क की अंतहीन गवेषणा के दृष्टांत मिलेंगे, जो पुरातन होने पर भी सदा नवीन हैं।

विश्वविख्यात चिंतक और मनीषी डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन भारत के राष्ट्रपति के रूप में स्मरण किए जाते हैं, पर मूलतः वे शिक्षक थे। 5 सितंबर, सन् 1888 को डॉ. राधाकृष्णन का जन्म हुआ। यह दिन इसीलिए भारत-जन 'शिक्षक दिवस' के रूप में आदरपूर्वक मनाते हैं। एक दर्शनशास्त्री के रूप में देश-विदेश में उनकी गहरी यश:कीर्ति और प्रतिष्ठा है। कीर्तिशेष डॉ. राधाकृष्णन का स्मरण करते हुए जैन भारती के इस अंक से अवसर-विशेष पर उनके एक लंबे आलेख की पहली किस्त अपने पाठकों के लिए—

भारतीय जीवन में आध्यात्मिक प्रयोजन का स्थान सदा ही सर्वोपरि रहता है। भारतीय दर्शन की रुचि मानव-समुदाय में है, काल्पनिक एकांत में नहीं। इसका उद्‌भव जीवन में होता है और विभिन्न शाखाओं-संप्रदायों में से होकर पुनः जीवन में ही प्रवेश करता है। भारतीय दर्शन की महान रचनाओं का वह आधिकारिक या प्रामाणिक स्वरूप नहीं है जो परवर्ती समीक्षाओं और टीकाओं की एक प्रमुख विशेषता है। गीता और उपनिषदें जनसाधारण के धार्मिक विश्वास की पहुंच के बाहर नहीं हैं। ये ग्रंथ इस देश के महान साहित्य के अंग हैं, साथ ही बड़ी-बड़ी दार्शनिक विचारधाराओं के माध्यम भी हैं। पुराणों में कथाओं और कल्पनाओं के रूप में सत्य छिपा हुआ है जिससे कि न्यूनबोध जनता के बड़े वर्ग का भी उपकार हो सके। बहुसंख्यक जनता की रुचि को तत्त्वमीमांसा की ओर प्रवृत्त करने का जो दुष्कर कार्य है उसमें भारत ने सफलता प्राप्त की है।

दर्शनशास्त्र के संस्थापकों ने देश के सामाजिक-आध्यात्मिक सुधार का प्रयास किया है। प्लेटो के इस विचार को, कि दार्शनिकों को समाज का शासक और निदेशक होना चाहिए, भारत में ही क्रियात्मक रूप दिया गया है। यहां यह माना गया है कि परम सत्य आध्यात्मिक सत्य ही हैं और उन्हीं के प्रकाश में जीवन का संस्कार किया जाना चाहिए।

भारत में धर्म-संबंधी हठधर्मिता नहीं है। यहां धर्म एक युक्तियुक्त संश्लेषण है जो दर्शन की प्रगति के साथ-साथ अपने अंदर नए-नए विचारों का संग्रह करता रहता है। अपने-आप में इसकी प्रकृति परीक्षणात्मक और अनंतिम है और यह वैचारिक प्रगति के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास करता है। यह सामान्य आलोचना, कि भारतीय विचार बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शनशास्त्र को धर्म का स्थान देता है, भारत में धर्म के युक्तियुक्त स्वरूप का समर्थन करती है। इस देश में कोई भी धार्मिक आंदोलन ऐसा नहीं हुआ जिसने अपने समर्थन में दार्शनिक विषय का विकास भी साथ-साथ न किया हो। श्री हैवल का कहना है : 'भारत में धर्म को रूढ़ि या हठधर्मिता का स्वरूप प्राप्त नहीं है, वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियों में और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने-आप को अनुकूल बना लेती है।'[1] जब भी धर्म ने एक जड़ मतवाद का रूप धारण करने की प्रवृत्ति दिखाई तो अनेक आध्यात्मिक पुनरुत्थान और दार्शनिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हुईं और उपलब्ध विश्वास कसौटी पर कसे गए, असत्य का खंडन कर सत्य की संस्थापना की गई। हम बराबर देखेंगे कि जब-जब परंपरागत विश्वास, काल-परिवर्तन के कारण, अपर्याप्त ही नहीं, झूठ सिद्ध होते हैं और युग उनसे ऊब जाता है तो बुद्ध या महावीर, व्यास या शंकर जैसे युगपुरुष की चेतना आध्यात्मिक जीवन की गहराइयों में हलचल उत्पन्न करती हुई जन-मानस पर छा जाती है। भारतीय विचारधारा के इतिहास में, निस्संदेह, ये बड़े महत्त्वपूर्ण क्षण रहे हैं, आंतरिक कसौटी और अंतर्दृष्टि के क्षण, जबकि आत्मा की पुकार पर मनुष्य का मन एक नए युग में पग रखता है और एक नए साहसिक कार्य पर चल पड़ता है। दर्शन के सत्य और जनसाधारण के दैनिक जीवन का घनिष्ठ संबंध ही धर्म को सदा सजीव और वास्तविक बनाता है।

धर्मविषयक समस्याओं से दार्शनिक भावना को उत्तेजना मिलती है। भारत में यद्यपि दर्शनशास्त्र ने साधारणतया अपने को धार्मिक परिकल्पना के आकर्षण से अछूता नहीं रखा, तो भी दार्शनिक विचार-विमर्श की प्रगति में धार्मिक रीतियों एवं क्रियाकलाप ने कोई बाधा नहीं दी। दोनों का परस्पर संविलयन कभी नहीं हुआ। आगम और व्यवहार के बीच, सिद्धांत और वास्तविक जीवन के बीच, घनिष्ठ संबंध होने के कारण कोई दर्शन, जो जीवन की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता—उपयोगितावाद की दृष्टि से नहीं, वरन् अपने विस्तृत अर्थों में—कभी भी जीवित नहीं रह सकता था। उन लोगों के लिए, जो जीवन और आगम के मध्य वास्तविक नाते का महत्त्व पहचानते हैं, दर्शन जीवन की एक पद्धति या उसका अंग, आत्म-साक्षात्कार का एक साधन, बन जाता है। यहां कोई भी दार्शनिक शिक्षा ऐसी नहीं थी, यहां तक कि सांख्य की भी नहीं, जो केवल एक मौखिक शब्द या संप्रदायगत रूढ़ि-मात्र रह गई हो। प्रत्येक सिद्धांत को एक ऐसी ओजस्वी श्रद्धा के रूप में जीवन में परिवर्तित कर दिया गया जिसने मनुष्य के हृदय को उद्वेलित किया और उसे चैतन्य से परिपूर्ण कर दिया।

यह कहना असत्य है कि भारत में दर्शनज्ञान कभी भी प्रबुद्ध और आत्मचेतन अथवा विवेचनात्मक नहीं रहा। यहां तक कि प्रारंभिक अवस्थाओं में भी तार्किक चिंतन की प्रवृत्ति धार्मिक विश्वास में सुधार की ओर रही है। धर्म के उस विकास को देखिए जिसका संकेत वेदमंत्रों से लेकर उपनिषदों तक हुई प्रगति में मिलता है। जब हम बौद्ध धर्म के समीप पहुंचते हैं तो ज्ञात होता है कि दार्शनिक भावना ने पहले से ही एक विश्वासपूर्ण मानसिक वृत्ति का रूप धारण कर लिया है, जो बुद्धि से संबंध रखने वाले विषयों में किसी बाह्य प्रमाण के आगे नहीं झुकती और जो अपने उद्यम की किसी सीमा को भी तब तक स्वीकार नहीं करती जब तक कि यह तर्कसम्मत न जंचे, क्योंकि तर्क हर वस्तु के अंतस्तल में प्रवेश करता है, हर चीज की परख करता है और जहां तक युक्ति एवं प्रमाण मार्ग दिखा सकते हैं, निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ता है। जब हम विभिन्न दर्शनों अथवा विचार की विभिन्न पद्धतियों तक पहुंचते हैं तो हमें क्रमबद्ध विचार के प्रति विशाल और आग्रहपूर्ण प्रयत्नों का प्रमाण मिलता है। ये दर्शन किस प्रकार परंपरागत धार्मिक विश्वासों और पक्षपातों से सर्वथा मुक्त हैं, यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यदर्शन ईश्वर की सत्ता के विषय में मौन है, हालांकि उसकी सैद्धांतिक प्रमाणातीतता के विषय में वह आश्वस्त है। वैशेषिक और योगदर्शन एक परब्रह्म की सत्ता को तो स्वीकार करते हैं किंतु उसे विश्व की कर्ता नहीं मानते और जैमिनी ईश्वर का उल्लेख तो करते हैं किंतु उसे विधाता एवं संसार का नैतिक शासक मानने से इनकार करने के लिए ही। प्रारंभिक बौद्धदर्शनों को ईश्वर के प्रति उदासीन माना जाता है और हमारे यहां भौतिकवादी चार्वाक भी मिलते हैं जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करते हैं, पुरोहितों का उपहास करते हैं, वेदों की भर्त्सना करते हैं तथा सांसारिक सुख में ही मुक्ति की खोज करते हैं।

जीवन में धर्म और सामाजिक परंपरा की श्रेष्ठता दार्शनिक ज्ञान के मुक्त अनुसरण में बाधक नहीं होती। यह एक अद्‌भुत विरोधाभास है, किंतु फिर भी एक प्रकट सत्य है, क्योंकि जहां एक ओर किसी व्यक्ति का सामाजिक जीवन जन्मगत जाति की कठिन रूढ़ि से जकड़ा हुआ है वहां उसे अपना मत स्थिर करने में पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह किसी भी संप्रदाय में जन्मा हो, तर्क द्वारा उस संप्रदाय की समीक्षा कर सकता है। यही कारण है कि भारतभूमि में विधर्मी या धर्मभ्रष्ट, संशयवादी, नास्तिक, हेतुवादी एवं स्वतंत्र विचारक, भौतिकवादी एवं आनंदवादी—सभी फलते-फूलते रहे हैं। महाभारत में कहा है : 'ऐसा कोई मुनि नहीं जो अपनी भिन्न सम्मति न रखता हो।'

यह सब भारतीय मस्तिष्क की प्रबल बौद्धिकता का प्रमाण है जो मानवीय कार्य-कलाप के समस्त पक्षों के आभ्यंतर सत्य एवं नियम को जानने के लिए प्रयत्नशील है। यह बौद्धिक प्रेरणा केवल दर्शनशास्त्र और ब्रह्मविद्या तक ही सीमित नहीं है, बल्कि तर्कशास्त्र और व्याकरणशास्त्र में, अलंकारशास्त्र और भाषाविज्ञान में, आयुर्विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र में—वस्तुतः स्थापत्यकला से लेकर प्राणिविज्ञान तक समस्त ललित कलाओं और विज्ञानों में व्याप्त है। इस देश में प्रत्येक वस्तु, जो जीवन के लिए उपयोगी है अथवा मस्तिष्क के लिए रुचिकर है, जांच-पड़ताल एवं समीक्षा का विषय बन जाती है। यहां का बौद्धिक जीवन कितना व्यापक और पूर्ण रहा है इसका आभास इस तथ्य से मिल सकता है कि यहां अश्वपालन-विद्या एवं हाथियों को प्रशिक्षित करने की विद्या जैसे छोटे-छोटे विषयों तक के अपने-अपने शास्त्र और साहित्य रहे हैं।

वास्तविक सत्ता के स्वरूप-निर्णय के दार्शनिक प्रयास का समारंभ या तो विचारक (प्रमाता) आत्मा से या विचार के विषय (प्रमेय) पदार्थों से हो सकता है। भारत में दर्शन की रुचि मनुष्य की आत्मा में है। जब दृष्टि बाहर की ओर होती है तो निरंतर बदलती हुई घटनाओं का प्रवाह ध्यान आकृष्ट कर लेता है। इसके विपरीत भारत में 'आत्मानंविद्धि', अर्थात् अपनी आत्मा को पहचानो, इस एक सिद्धांत में समस्त धार्मिक आदेश और युगपुरुषों की शिक्षाएं समाविष्ट हैं। मनुष्य के अपने अंदर वह आत्मा है जो प्रत्येक वस्तु का केंद्र है। मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र आधारभूत विज्ञान हैं। भौतिक मन के जीवन का चित्रण उसकी समस्त गतिशील विविधताओं तथा उज्ज्वलता और कालिमा के सूक्ष्म संयोजन के साथ हुआ है। भारतीय मनोविज्ञान ने एकाग्रता के महत्त्व को समझा है और उसे सत्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन के रूप में माना है। उसका विश्वास रहा है कि जीवन या मन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां इच्छा-शक्ति एवं ज्ञान के विधिवत् प्रशिक्षण द्वारा नहीं पहुंचा जा सकता। उसने मन और शरीर के घनिष्ठ संबंध को पहचाना था। आत्मिक या मानसिक अनुभव, यथा मनःपर्यय और अतींद्रिय दृष्टि आदि, न तो असामान्य और न ही चमत्कारक समझे जाते हैं। ये विकृत मन अथवा दैवीय प्रेरणा से उत्पन्न शक्तियां नहीं, बल्कि ऐसी शक्तियां हैं जिन्हें मानवीय मानस सावधानीपूर्वक अभिनिश्चित परिस्थितियों में प्रकट कर सकता है। मनुष्य के मन के तीन रूप हैं—अवचेतन, चेतन व अतिचेतन; और 'असामान्य' मानसिक चमत्कार—जिन्हें भावोन्माद (परमानंद या समाधि), प्रतिभा, ईश्वरीय प्रेरणा, विक्षिप्तावस्था आदि भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है—अतिचेतन मन की क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। योगदर्शन विशेषकर ऐसे ही अनुभवों से संबंधित है, यद्यपि अन्य दर्शन-प्रणालियां भी उनका उल्लेख करती हैं और अपने प्रयोजन के लिए उनका उपयोग भी करती हैं।

मानसविज्ञान द्वारा प्रस्तुत आधार-सामग्री ही अध्यात्मविद्याओं का आधार है। इस आलोचना को सारहीन नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य अध्यात्मविद्या एक-पक्षीय है, क्योंकि, इसका ध्यान केवल जागरितावस्था तक ही सीमित है। चेतना की अन्य अवस्थाएं भी हैं जिन पर जागरितावस्था की भांति ही विचार करना आवश्यक है। भारतीय विचारधारा जागरितावस्था, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति (स्वप्नरहित निद्रा) पर ध्यान देती है। यदि हम केवल जागरितावस्था को ही सब-कुछ मान लें तो हमें अध्यात्मविद्या की यथार्थवादी, द्वैतपरक तथा बहुत्ववादी संकल्पनाएं ही प्राप्त होती हैं। जब हम केवल स्वप्नचेतना का पृथक् रूप से अध्ययन करते हैं तो हमें आत्मवादी या विषयिविज्ञानवादी सिद्धांतों की ही प्राप्ति होती है। सुषुप्ति या स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था हमें अमूर्त और रहस्यपूर्ण सिद्धांतों की ओर उन्मुख करती है। संपूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए चेतना की समस्त अवस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

आत्मपरकता के विषय में विशेष रुचि रखने का तात्पर्य यह नहीं है कि भौतिक विज्ञानों के विषय में भारत ने कुछ नहीं किया। यदि हम भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्राप्त की गई सफलताओं की ओर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि

स्थिति इससे ठीक विपरीत है। प्राचीन भारतीयों ने गणितविद्या एवं यंत्रविद्या की नींव डाली थी। उन्होंने भूमि का माप किया, वर्ष के विभाग किए, आकाश के नक्शे तैयार किए, सूर्य एवं अन्यान्य ग्रहों के, राशिमंडलीय परिधि के अंदर घूमने के मार्ग का परिशीलन किया, प्रकृति की रचना का विश्लेषण किया एवं प्राकृतिक पक्षियों, पशुओं, पेड़-पौधों और बीजों आदि तक का अध्ययन किया।[2] 'ज्योतिषशास्त्र-संबंधी उन विचारों का, जो संसार में प्रचलित हैं, आदिस्रोत क्या था—इस विषय में हम चाहे जो भी परिणाम निकालें, यह सर्वथा संभव है कि बीजगणित का आविष्कार हिंदुओं ने किया और उसका प्रयोग ज्योतिषशास्त्र एवं ज्यामिति में भी हुआ। अरबवासियों ने भी बीजगणित के विश्लेषक विचारों को और उन अमूल्य अंक-संबंधी चिह्नों और दशमलव के विचारों को, जिनका आज यूरोप में सर्वत्र प्रचलन है और जिनके कारण गणितविद्या ने अद्भुत उन्नति की है, भारतवासियों से ग्रहण किया।'[3] 'चांद और सूरज की गतियों का भी हिंदुओं ने बहुत सूक्ष्म अध्ययन किया था और यहां तक इस विषय में उन्नति की थी कि उनके द्वारा निर्धारित चंद्रमा की ग्रहों अथवा तारों के समुच्चय-सचेत परिक्रमा का अंकन यूनानियों द्वारा निर्धारित गति से कहीं अधिक पूर्ण और सही था। उन्होंने क्रांतिवृत्त को 27 एवं 28 भागों में विभक्त किया था, जिसका सुझाव उन्हें चंद्रमा की दैनिक अवधि से और प्रतीत होता है कि स्वयं उनकी अपनी आकृतियों से भी मिला था। भारतीय ज्योतिषी मुख्य ग्रहों में से जो सबसे अधिक उज्ज्वल ग्रह हैं उनसे भी विशेषरूप से अभिज्ञ थे। बृहस्पति का परिक्रमणकाल सूर्य एवं चंद्रमा के परिक्रमणकाल के साथ-साथ उनके वर्ष में नियमित होकर 60 वर्ष के कालचक्र में उनके और बेबिलन के भविष्यवक्ता ज्योतिषियों में एक समान है।'[4] यह अब सर्वसम्मत विषय है कि हिंदुओं ने बहुत प्राचीन समय में दोनों विज्ञानों अर्थात् तर्कशास्त्र एवं व्याकरण को जन्म दिया एवं उनका विकास किया।[5] विल्सन लिखता है : 'चिकित्सा-विज्ञान में भी ज्योतिष और अध्यात्मविद्या की भांति ही एक समय हिंदू लोग संसार के सबसे अधिक प्रबुद्ध राष्ट्रों के साथ-साथ चलते थे। और उन्होंने आयुर्वेद और शल्य-चिकित्सा में इसी प्रकार पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी जैसी कि उन अन्य देशों ने की थी जिनकी खोज के परिणाम आज हमारे सामने हैं, और वह इससे बहुत पूर्व के समय में व्यवहार में भी आती थी जबकि आधुनिक खोज करने वालों ने शरीर-विज्ञान का परिचय हमें दिया।[6] यह सत्य है कि उन्होंने चिकित्सा-संबंधी बड़े-बड़े यंत्रों का आविष्कार नहीं किया, इसका कारण यह है कि दयालु ईश्वर ने इस देश के निवासियों को बड़ी-बड़ी नदियां और भोजन के लिए प्रचुर मात्रा में अनाज दे रखा था। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये यांत्रिक आविष्कार अंततः उस सोलहवीं शताब्दी एवं उसके बाद की उपज हैं जिस समय तक भारत अपनी स्वाधीनता खोकर पराश्रयी बन चुका था। जिस दिन से इसने अपनी स्वतंत्रता खोई और पराए देशों से झूठा प्रेम का नाता बांधना प्रारंभ किया, इसे एक प्रकार के शाप ने ग्रस लिया और यह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। उससे पूर्व तक इसमें गणितविद्या, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, शल्य-चिकित्सा और अन्यान्य भौतिक विज्ञान के उन सब विभागों के अलावा, जो प्राचीन समय में उपयोग में आते थे, कलाओं, दस्तकारी और उद्योगों के मामले में भी अपनापन रखने की क्षमता थी। इस देश के वासी पत्थरों को तराशना, तस्वीरें बनाना, सोने पर पालिश करके उसे चमकाना और कीमती कपड़े बुनना जानते थे। उन्होंने उन सब प्रकार की कलाओं, ललित एवं औद्योगिक कलाओं का विकास किया, जिनसे सभ्य जीवन की परिस्थितियां प्राप्त होती हैं। उनके जहाज समुद्र पार करते थे और उनकी धन-संपदा अपने देश से बाहर भी जूडिया, मिस्र और रोम तक अपना वैभव दिखाती थी। उनके विचार मनुष्य और समाज, सदाचार एवं धर्म के विषय में उस युग के लिए अद्वितीय माने जाते थे। यह कहना अयुक्तियुक्त होगा कि भारतीय अपनी कविताओं और पौराणिक कल्पनाओं में ही मस्त रहते थे और उन्होंने विज्ञान एवं दर्शन को त्याज्य समझा, यद्यपि यह सत्य है कि उनका झुकाव अधिकतर वस्तुओं के एकत्व की ओर रहा और वे चालाकी, धूर्तता अथवा विघटन पर जोर नहीं देते थे।

यदि इस प्रकार का भेद करना अनुचित न समझा जाए तो हम कहेंगे कि कल्पनात्मक मस्तिष्क अधिकतर संश्लेषणप्रिय होता है जबकि वैज्ञानिक अधिकतर विश्लेषणात्मक पाया जाता है। पहले प्रकार के मस्तिष्क का झुकाव ब्रह्मांड-संबंधी दर्शन की रचना की ओर होता है जो एक व्यापक दृष्टिकोण से सब वस्तुओं के निकास, युगों के इतिहास एवं जगत् के विघटन एवं विनाश की व्याख्या करता है। दूसरे प्रकार का मस्तिष्क संसार के जड़ एवं अंशव्यापी भागों पर ही केंद्रित रहता है और इस प्रकार एकत्व एवं पूर्णता के विचार से वंचित रहता है। भारतीय विचार अस्तित्व के संबंध में विस्तृत और अभौतिक विचारों पर बल देते हैं और इसलिए आलोचक आसानी से

भारतीय विचारकों पर अधिकतर आदर्शवादी, ध्यानमग्न, स्वप्नदर्शी, कल्पनाविहारी और संसार में अजनबी होने का दोषारोपण कर सकता है, जबकि पश्चिमी विचार अधिकतर विशिष्टतावादी एवं उपयोगितावादी हैं। पश्चिमी विचारक, जिन्हें हम इंद्रिय कहते हैं उन पर निर्भर करता है जबकि भारतीय कल्पना के क्षेत्र में आत्मज्ञान के ऊपर बल देता है। यहां पर एक बार फिर हमें यही कहना होता है कि ये भारत की अनुकूल प्राकृतिक स्थितियां ही हैं जिनके कारण भारतीयों की प्रवृत्ति कल्पनापरक रही, क्योंकि उनके पास संसार की सुंदर वस्तुओं का आनंद लेने के लिए और अपनी आत्मिक संपत्ति को कविता, कहानी, संगीत, नृत्य, कर्मकांड और धर्म के रूप में प्रकट करने के लिए पर्याप्त अवकाश था, क्योंकि बाह्य जगत के प्रलोभन उनका ध्यान बंटाने को नहीं थे। 'विचारमग्न पूर्व' का नाम, जो प्रायः उपहास के रूप में हमारे देश को दिया जाता है वह, बिलकुल निराधार नहीं है।

यह भारत का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण ही है जिससे यहां के दार्शनिक ज्ञान के अंतर्गत अनेक विज्ञान समवेत हैं जोकि आधुनिक समय में अलग-अलग रूप में आ गए हैं। पश्चिम में पिछले लगभग सौ वर्ष के समय में ज्ञान की अनेक शाखाएं हो गईं, जोकि उससे पूर्व दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र आदि एक-एक करके इनसे कट-कटकर पृथक् होती चली गईं। प्लेटो के समय में दर्शनशास्त्र के अंदर ये सब विज्ञान सम्मिलित थे जो मानव-प्रकृति से संबद्ध हैं और जो मानव-हितों के अंतस्तल का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार प्राचीन धर्मशास्त्रों में हमें दार्शनिक क्षेत्र का पूरा सार सन्निविष्ट मिलता है। उसके पश्चात् आधुनिक काल में पश्चिमी देशों में दर्शनशास्त्र एक प्रकार से अध्यात्मविद्या अर्थात् ज्ञान-संबंधी गूढ़ विवादों, सत्ता और उसके मूल्यांकन का पर्यायवाची हो गया और यह आपत्ति की जाती है कि अध्यात्मविद्या बिलकुल कल्पनात्मक हो गई है, जिसका संबंध मनुष्य-प्रकृति के कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक—दोनों पक्षों से सर्वथा पृथक् हो गया है।

यदि हम भारतीय मस्तिष्क की आत्मनिष्ठ रुचि को इसके संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण के साथ रखकर विचार करें तो हम इस परिणाम तक पहुंचते हैं कि अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद ही वास्तविक तथ्य है। वैदिक विचार का संपूर्ण विकास इसी की ओर निर्देश करता है। इसी पर बौद्ध एवं ब्राह्मणधर्म आश्रित हैं। यह वह परम सत्य है जिसका आविष्कार भारत में हुआ। यहां तक कि वे दर्शन-पद्धतियां भी, जो अपने को द्वैतवादी अथवा अनेकवादी घोषित करती हैं, प्रबल रूप में अद्वैत स्वरूप से आच्छादित प्रतीत होती हैं। यदि हम भिन्न-भिन्न मतों का सारतत्त्व निकालकर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि सामान्य रूप में भारतीय विचारधारा की स्वाभाविक प्रवृत्ति जीवन एवं प्रकृति की अद्वैतपरक बाह्य शून्यवादी व्याख्या की ओर ही है। यद्यपि यह झुकाव इतना लचीला, सजीव और भिन्न प्रकार का है कि इसके विविध रूप हो गए हैं और यहां तक कि यह परस्पर-विरोधी उपदेशों के रूप में परिणत हो गया है। हम यहां पर संक्षेप में उन मुख्य-मुख्य स्वरूपों की ओर ही निर्देश करेंगे जो भारतीय विचारधारा में अद्वैत-संबंधी बाह्य शून्यवाद ने अंगीकार किए और उनके ब्यौरेवार विकास एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन को छोड़ देंगे। इससे हम भारत में दर्शनशास्त्र से क्या तात्पर्य लिया जाता है—इसे एवं इसके स्वरूप और क्रिया को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे। अपनी कार्यसिद्धि के लिए अद्वैतपरक बाह्यशून्यवाद के चार विभाग करना ही पर्याप्त है; यथा (1) अद्वैतवाद (अर्थात् सिवाय ब्रह्म के दूसरी सत्ता नहीं), (2) विशुद्धाद्वैत, (3) विशिष्टाद्वैत और (4) अव्यक्त (उपलक्षित) अद्वैतवाद।

दर्शनशास्त्र साक्षात् अनुभव-संबंधी घटनाओं को लेकर चलता है। तार्किक आलोचना यह निश्चय करने के लिए आवश्यक है कि एक विशेष व्यक्ति द्वारा जानी गई घटनाएं सब व्यक्तियों को स्वीकार हैं या नहीं अथवा केवल अपने स्वरूप में ही आत्मनिष्ठ हैं। सिद्धांतों को उसी अवस्था में स्वीकार किया जा सकता है जब वे घटनाओं की संतोषजनक व्याख्या कर सकें। हम पहले कह चुके हैं कि मानसिक एवं चेतना-संबंधी घटनाओं का अध्ययन भारतीय विचारकों ने उतनी ही सावधानी और एकाग्रता के साथ किया है जितना कि आधुनिक वैज्ञानिक बाह्य जगत् की घटनाओं का अध्ययन करते हैं। अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद के परिणाम भी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म अन्वेक्षणों के आधार पर स्थित हैं।

आत्मा की चेष्टाएं तीन अवस्थाओं में, यथा जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति में घटित होती हैं। स्वप्नावस्थाओं में एक वास्तविक ठोस जगत् हमारे आगे प्रस्तुत किया जाता है, हम उसे वास्तविक जगत् इसलिए नहीं मानते क्योंकि जागने पर हमें प्रतीत होता है कि स्वप्नावस्था का जगत् जागरितावस्था के जगत् के अनुकूल नहीं है, तो भी अपेक्षया

स्वप्नावस्था के विचार से स्वप्न-जगत् वास्तविक है। यह विभिन्नता हमारे जागरित जीवन के मान्य मानदंड के कारण है न कि एक सत्य के विकल्पशून्य ज्ञान के अपने कारण, जो हमें यह बतलाती हो कि स्वप्नावस्थाएं जागरितावस्थाओं से कम वास्तविक हैं। वस्तुतः जागरित अवस्था की यथार्थसत्ता भी तो स्वयं अपेक्षाकृत ही है। इसकी कोई स्थिर सत्ता नहीं, क्योंकि केवल जागरित अवस्था से ही इसका संबंध है। स्वप्नावस्था में और निद्रितावस्था में यह विलुप्त हो जाती है। जागरित चेतना एवं जागरित अवस्था के जगत् का वैसा ही पारस्परिक संबंध है जैसा कि स्वप्नचेतना का और स्वप्न में प्रकट हुए जगत् का। ये दोनों परम सत्य नहीं हैं, क्योंकि शंकर के शब्दों में जबकि 'स्वप्नावस्था के जगत् का प्रतिदिन प्रत्याख्यान हो जाता है, जागरितावस्था के जगत् का भी प्रत्याख्यान विशेष-विशेष परिस्थितियों में हो जाता है।' स्वप्नरहित प्रगाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में ऐंद्रिय चेतना का एकदम अभाव हो जाता है। कई भारतीय विचारकों का मत है कि इस अवस्था में एक प्रकार की उद्देश्य-रहित चेतना रहती है। हर हालत में इतना तो स्पष्ट है कि स्वप्न-रहित प्रगाढ़ निद्रा एकदम अभावात्मक नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना का विरोध स्वयं निद्रा की सुखमय विश्रांतिपरक भावना-संबंधी परवर्ती स्मृति से हो जाता है। इस बात को बिना स्वीकार किए हम नहीं रह सकते कि आत्मा निरंतर विद्यमान रहती है, यद्यपि सब प्रकार के अनुभवजन्य ज्ञान से यह उस अवस्था में विरहित होती है। जब निद्रा प्रगाढ़ रहती है तब किसी पदार्थ का बोध नहीं होता और न हो ही सकता है। उस अवस्था में विशुद्ध आत्मा विचारों के उन अवशिष्ट एवं प्रक्षिप्त अंशों से सर्वथा अछूती होती है, जो विशेष-विशेष मनोवृत्तियों के साथ उदय होते एवं विनष्ट होते रहते हैं। 'भिन्न एवं परिवर्तित होने वाले पदार्थों के बीच जो न भिन्न होता है, न ही परिवर्तित होता है, यह अवश्य उन पदार्थों से पृथक् है।'[7] आत्मा, जो निरंतर अपरिणामी रूप में विद्यमान रहती है और समस्त परिवर्तनों के बीच एक समान है, उन सबसे पृथक् है। अवस्थाएं बदलती हैं, आत्मा में परिवर्तन नहीं होता।'समस्त अंतरहित मासों, वर्षों और छोटे एवं बड़े युगों में, भूतकाल एवं भविष्य में यह स्वतः ज्योतिष्मान चेतना ही एक सत्ता है जो न कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है।'[8] जहां देश और काल अपने समस्त विषयों के साथ विलुप्त हो जाते हैं वहां एक प्रतिबंधरहित यथार्थ सत्ता ही वास्तविक भासित होती है। यह आत्मा ही है जो स्वयं निर्लिप्त रहकर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं की परिवर्तनशील मनोवृत्तियों से प्रभावित विचारों के नाटक की एकमात्र साक्षी एवं दर्शक के रूप में बराबर विद्यमान रहती है। हमें विश्वास है कि हमारे अंदर ऐसी एक सत्ता है जो सुख-दुख, गुण-अवगुण और पुण्य-पाप से परे है। 'आत्मा न कभी मरती है, न जन्म लेती है—अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन यह शरीर के नाश के साथ कभी नष्ट नहीं होती। यदि मारने वाला समझता है कि वह इस आत्मा को मार सकता है अथवा मृत मनुष्य यह समझता है कि वह मारा गया तो वे दोनों सत्य से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि यह न तो मारती है, न मर सकती है।'[9]

सदा एकरस रहने वाली आत्मा के अतिरिक्त हमारे आगे इंद्रियानुभूति के विविध पदार्थ हैं। जीवात्मा नित्य एवं स्थाई है, अविभाज्य एवं अच्छेद्य है जबकि बाह्य पदार्थ अनित्य और सदा परिवर्तनशील हैं। जीवात्मा परम सत्य है, क्योंकि सब पदार्थों से स्वतंत्र एवं पृथक् है, किंतु पदार्थ मनोवृत्तियों के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। ❖

क्रमशः अगले अंक में जारी

संदर्भ

1. 'आर्यन रूल इन इंडिया', पृष्ठ 170। देखें, 'द हार्ट आफ हिंदूइज्म' नामक लेख : 'हिबर्ट जर्नल', अक्टूबर, 1922।
2. हम एक ऐसे अंश का उद्धरण देते हैं जो कोपर्निकस से कम से कम 2000 वर्ष पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा गया था, 'सूर्य न तो कभी अस्त होता है और न कभी उदय। जब लोग सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो रहा है तब वह केवल एक परिवर्तन में आता है; दिन के अंत में नीचे के हिस्से में रात हो जाती है और दूसरी ओर दिन हो जाता है। फिर जब लोग सोचते हैं कि सूर्य उदित हो रहा है तब वह केवल रात्रि के अंत में पहुंचकर फिर एक परिवर्तन में आ रहा होता है, और नीचे के हिस्से में दिन और दूसरे हिस्से में रात कर देता है। वस्तुतः वह कभी अस्त नहीं होता।'—हौग कृत संस्करण, 3:44; छांदोग्य उप. 3-2:1-3; यदि यह जनश्रुति ही है तो भी रोचक है।
3. मोनियर विलियम्स—'इंडियन विज्डम', 184।
4. कोलब्रूक कृत अनुवाद—'भास्कर्स वर्क आफ ऐल्जेब्रा', पृ. 22।
5. देखिए, मैक्समूलर—'संस्कृत लिटरेचर'।
6. 'वर्क्स', खंड 3, पृष्ठ 260।
7. 'येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नम्' (भामती)।
8. पंचदशी, 1:7।
9. कठोपनिषद्, 2:18-19; भगवद्गीता, 2:19-20। ❖❖

आधुनिक कविता की आध्यात्मिकता

सवाल यह है कि क्या हमारे समय में मनुष्य में अस्तित्व के साथ एकसारता का बोध अथवा लगाव की तीव्र अनुभूति संभव हो रही है। समकालीन जीवन की बेतहाशा रफ्तार और आपाधापी में क्या मनुष्य को ठहरकर जीवन के बुनियादी प्रश्नों और जिए जा रहे जीवन के वास्तविक अर्थ का सवाल पूछने और उस पर विचार करने का अवकाश है? क्या वह ऐसा जीवन जीने के लिए बाध्य नहीं है जिसमें एक भी पल उसका अपना नहीं है—एक ऐसा पल जिसमें वह अपने 'स्व' में स्थित हो सके, वास्तविक अर्थों में 'स्वस्थ' हो सके। पॉल टिलिच का कहना है कि आधुनिक मनुष्य ने 'गहराई का आयाम' गंवा दिया है और वह इसे ही धर्म का लुप्त आयाम कहते हैं। स्मरणीय है कि हर्बर्ट मारक्यूज़ जैसा मार्क्सवादी विचारक भी समकालीन मनुष्य को 'एकायामी मनुष्य' कहता है, जो आधुनिक कही जाने वाली औद्योगिक सभ्यता में अपने 'स्व' और 'स्वतंत्रता' गंवा बैठा है। मारक्यूज़ इस परिस्थिति को 'डेमोक्रेटिक अनफ्रीडम'—'लोकतांत्रिक अस्वतंत्रता'—कहता है क्योंकि जब 'स्व' ही नहीं तो 'स्वस्थ' या 'स्वतंत्र' हो पाना कैसे संभव हो।

नन्दकिशोर आचार्य

कविता—बल्कि कला मात्र—अपने-आप में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है—चाहे उसकी विषय-वस्तु कुछ भी हो। इवान इलिच शिक्षा को मूलतः एक संप्रेषण प्रक्रिया मानते हुए उसके पाठ्यक्रम के दो प्रकार बताते हैं : घोषित पाठ्यक्रम और अंतर्निहित या गुप्त पाठ्यक्रम। यह अंतर्निहित या गुप्त पाठ्यक्रम शिक्षा की प्रक्रिया से तय होता है और वही उसका असली पाठ्यक्रम है—चाहे घोषित पाठ्यक्रम कुछ भी हो—क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया ही अब वास्तविक शिक्षा है। इसलिए शिक्षाविद् वे कहलाते हैं जो शिक्षा के तरीकों और प्रक्रिया पर विचार करते हैं, न कि वे जो किसी विषय के विशेषज्ञ हैं।

धर्म और आध्यात्मिकता के घनीभूत संबंधों से कौन परिचित नहीं होगा? यह सर्वविदित है कि धर्म और आध्यात्मिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। परंतु कोई अगर यह कहे कि कला अथवा कविता भी एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है और इसी तरह अनुभूति की प्रक्रिया भी—चाहे उसका विषय या आलंबन कुछ भी हो, तो आध्यात्मिकता का एक नया फलक हमारे सामने खुलता है। यही नहीं, धर्म और अध्यात्म को पृथक् दृष्टि से समझने का एक नया वृत्त भी उपस्थित होता है। आध्यात्मिकता को एक नई दृष्टि से समझने के लिए प्रस्तुत है श्री नन्दकिशोर आचार्य का यह विशेष आलेख—

कविता भी एक संप्रेषण प्रक्रिया है, अतः इलिच का 'गुप्त पाठ्यक्रम' अर्थात् प्रक्रिया को केंद्रीय मानने का आग्रह कविता पर भी लागू होता है। कविता—और अन्य कोई भी कला—मूलतः अनुभूति पर आधारित होती है। माध्यम की भिन्नता के बावजूद अनुभूति की प्रक्रिया सभी कलाओं का केंद्रीय आधार है। अनुभूति का संप्रेषण भी पाठक या ग्रहीता के लिए अनुभूति की प्रक्रिया से गुजरना ही है। अनुभूति की प्रक्रिया— चाहे उसका विषय या आलंबन कुछ भी हो— अपने में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। अनुभूति का अर्थ है विषयी और विषय में अभेद, ज्ञाता और ज्ञेय का एकत्व—एक कदम आगे बढ़कर कहें तो 'आत्म' और 'अन्य' के अद्वैत का बोध जहां विषय अर्थात् 'अन्य' 'विषयी' यानी 'आत्म' में रूपांतरित हो जाता है। इस अर्थ में प्रत्येक कविता अपनी रचना और संप्रेषण—दोनों प्रक्रियाओं में एक आध्यात्मिक प्रक्रिया हो जाती है।

जेन कविता और कला के विविध प्रकार तो साधना की प्रक्रिया माने ही गए हैं, भारतीय कला-चिंतन में भी ध्यान को केंद्रीय कारक माना गया है—और ध्यान का अर्थ है विषय के साथ विषयी का तादात्म्य। अज्ञेय की कविता 'असाध्य वीणा' ध्यान की वास्तविक अनुभूति का काव्यात्मक रूपायन है जो यह दर्शाता है कि विषय और विषयी के अभेद का वास्तविक तात्पर्य क्या है। प्रक्रिया के रूप में यह बात जितनी स्वयं 'असाध्य वीणा' पर लागू होती है, उतनी ही निराला की 'तोड़ती पत्थर' पर। इस दृष्टि से 'राम की शक्ति पूजा' और 'भिक्षुक' अथवा 'असाध्य वीणा' और 'हिरोशिमा' की मूल प्रक्रिया—इलिच के शब्द इस्तेमाल करें तो उनका गुप्त पाठ्यक्रम—एक ही है। अनुभूति के स्वरूप और स्वभाव पर विचार करते हुए डॉ. गोविंदचंद्र पांडे का यह कथन सर्वथा संगत है कि 'अनुभूति मूलतः आत्मानुभूति होती है' क्योंकि 'अनुभव मात्र में एक दोहरी सांकेतिकता निहित है, आदर्श सत्ता की और आत्मचेतना की। आत्मप्रतीति ही उसका मूल है और विषय-निर्धारण के माध्यम से वह अपने को ही उस मूल आदर्श और प्रयोजन के रूप में खोजती है।' इस नजरिए से देखने पर ही मुले का यह आग्रह समझ में आता है कि प्रत्येक साहित्यिक रचना एक प्रकार का मानव-व्यक्तित्व है या एक स्वचेतन चित्त, जो पाठक में स्वयं को अपने विषयों के एक विषयी के रूप में ढालने लगती है।

कविता की इस प्रक्रियागत मौलिक आध्यात्मिकता की अचूक पहचान ही के कारण मैथ्यू आर्नाल्ड उसे आधुनिक युग में धर्म का स्थानापन्न मान लेते हैं जबकि टी. एस. एलियट विषयवस्तु अर्थात् घोषित पाठ्यक्रम को केंद्रीय महत्त्व देने की वजह से आधुनिक साहित्य को धर्मनिरपेक्षता या लौकिकता से भ्रष्ट हो गया कह देते हैं। आर्नाल्ड का कथन है : 'आने वाले युगों में कविता की अवश्यंभावी नियति यही है कि वह मानवमात्र को जोड़ने वाली और जीवन को अर्थ प्रदान करने वाली भूमिका का निर्वाह करे जो अब तक धर्म निबाहता आया था और जिसे अब विज्ञान ने (धर्म को पदच्युत करते हुए) असंभव बना दिया है।' यह भी उल्लेखनीय है कि आर्नाल्ड एक ओर कविता को 'जीवन की आलोचना' कहते हैं और दूसरी ओर उसे धर्म का स्थानापन्न मानते हैं—इसका सीधा तात्पर्य यही है कि कविता किसी लौकिक विषय पर केंद्रित होते हुए भी धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति संभव कर सकती है यदि उसकी प्रक्रिया का—विषय के विषयी में रूपांतरित होने की प्रक्रिया का—निर्वाह संगत ढंग से हुआ हो। लेकिन एलियट विषयवस्तु केंद्रित होने के कारण कविता ही नहीं, संपूर्ण आधुनिक साहित्य को 'धर्मनिरपेक्षता द्वारा भ्रष्ट' मानते हैं क्योंकि वह 'प्राकृतिक जीवन के ऊपर अधि-प्राकृतिक की प्राथमिकता के प्रति असावधान और उसे समझने में असमर्थ है जो कि मेरी राय में हमारा प्रमुख सरोकार है।'

स्पष्ट है कि एलियट के लिए धर्म किसी 'अधि-प्राकृतिक सत्ता में विश्वास' करना है जबकि आर्नाल्ड के लिए वह मानवमात्र को जोड़ने और जीवन को अर्थ प्रदान करने वाली चीज है—बल्कि कह सकते हैं कि मानवमात्र के जुड़ाव का, संलग्नता का या अद्वैत का यह अनुभव ही जीवन को अर्थ देने वाली चीज है। इसलिए 'जीवन की आलोचना' होने पर भी—बल्कि एक प्रकार से तो शायद उसी के कारण—कविता आर्नाल्ड के लिए धर्म का स्थानापन्न हो जाती है। इसलिए हिंदी में अज्ञेय 'मानवकेंद्रित या मानवतावादी आध्यात्मिकता' का प्रस्ताव करते हैं तो उसके अंतस्सूत्र जहां हमारी जैन और बौद्ध परंपरा से जुड़ते हैं, वहीं आर्नाल्ड की धर्म की मानवमात्र को जोड़ने वाली भूमिका से भी। मानवकेंद्रित आध्यात्मिकता वह भाव है जिसमें सृष्टि के एकत्व या अद्वैत का स्वीकार तो है और इसलिए उससे जुड़ाव में ही वास्तविक मुक्ति का बोध भी, लेकिन इस प्रक्रिया में मानव-व्यक्तित्व का महत्त्व बना रहता है—ईश्वर जैसी किसी अधि-प्राकृतिक सत्ता को स्वीकार करने के बावजूद मनुष्य के भौतिक या दैहिक अस्तित्व की सार्थकता बनी रहती है और ईश्वर से उसका संबंध मात्र उसके लिए ही नहीं स्वयं ईश्वर के लिए केंद्रीय महत्त्व का हो जाता है। इसीलिए रिल्के जैसा कवि कह पाता है :

जब मेरा अस्तित्व न रहेगा, प्रभु, तब तुम क्या करोगे?
जब मैं—तुम्हारा जलपात्र, टूटकर बिखर जाऊंगा?
जब मैं—तुम्हारी मदिरा, सूख जाऊंगा या स्वादहीन
हो जाऊंगा?
मैं तुम्हारा वेश हूं, तुम्हारी वृत्ति हूं
मुझे खोकर तुम अपना अर्थ खो बैठोगे?

मेरे बिना तुम गृहहीन निर्वासित होगे, स्वागतविहीन
मैं तुम्हारी पादुका हूं, मेरे बिना तुम्हारे
चरणों में छाले पड़ जाएंगे, वे भटकेंगे लहूलुहान!

प्रभु, प्रभु मुझे आशंका होती है
मेरे बिना तुम क्या करोगे?

(रूपांतर : धर्मवीर भारती)

अपनी 'तुमिओ आमि' कविता में रवींद्रनाथ टैगोर भी मानव-सत्ता को ही केंद्रीय हैसियत देते हैं :

जब तुम अकेले थे तो तुम अपने-आप को नहीं जान सके थे।
उस दिन कहीं किसी के लिए कोई प्रतीक्षा न थी;
इस पार से उस पार तक कोई क्रंदन-भरी बंधनहीन हवा
नहीं चलती थी।
मैं आया और तुम्हारी नींद टूटी,
सारे आकाश में आलोक के आनंदकुसुम खिल उठे।

मुझे तुमने मृत्यु में छिपाकर
बार-बार नए सिरे से प्राप्त किया।

ओ मेरे प्रभु, मैं जानता हूं,
मुझे देखने का तुम्हें असीम कौतूहल है
अन्यथा ये सूर्य-तारे सभी निष्फल हैं।

(रूपांतर : नेमिचंद्र जैन)

अज्ञेय के यहां प्रभु की जगह एक 'निस्संग ममेतर' है जो कवि का सह-तितीर्षु है :

ओ मेरी सह-तितीर्षु,
हमीं तो सागर हैं
जिसके हम किनारे हैं क्योंकि जिसे हमने
पार कर लिया है।

ओ मेरी सहयायिनी,
हमीं वह निर्मल तलदर्शी वापी हैं
जिसे हम ओक-भर पीते हैं—
बार-बार तृषा से, तृप्ति से, आमोद से, कौतुक से,
क्योंकि हमीं छिपा वह उत्स हैं जो उसे
पूरित किए रहता है।

ओ मेरी अतृप्त, दुःशम्य धधक, मेरी होता,
ओ मेरी हविष्यान्न,
आ तू, मुझे खा
जैसे मैंने तुझे खाया है
प्रसादवत्।
हम परस्पराशी हैं क्योंकि परस्परपोषी हैं,
परस्परजीवी हैं।

(ओ निस्संग ममेतर : कितनी नावों में कितनी बार)

रिल्के, टैगोर और अज्ञेय के ये कवितांश गहरी धार्मिक अनुभूतियों के रूपायन हैं—लेकिन उन्हें किसी धर्म-विशेष या कहें कि संप्रदाय की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। यहां धर्म संस्थान नहीं बल्कि अनुभूति है, इसलिए आध्यात्मिक है। टैगोर जब अपने धर्म को 'मूलतः एक कवि का धर्म' कहते हैं तो उसके अंतस्सूत्र कहीं-न-कहीं आर्नाल्ड की उस मान्यता से जुड़ जाते हैं जिसके अनुसार कविता की नियति 'मानवमात्र को जोड़ने वाली और जीवन को अर्थ प्रदान करने वाली भूमिका' का निर्वाह करना है। टैगोर जब धर्म और कवि के धर्म में फर्क करते हैं तब वह धार्मिक अनुभूति की स्वतंत्रता का आग्रह कर रहे होते हैं। वे कहते भी हैं : 'रूढ़िवादी धर्म में सब प्रश्नों का निश्चित उत्तर मौजूद रहता है। पर कवि का धर्म तरल होता है, पृथ्वी के चारों ओर के वायुमंडल की भांति...वह किसी को चरम निष्कर्ष की ओर ले जाने का दावा नहीं करता। पर वह आलोक के अनंत को उद्घाटित करता है।'

'आलोक के अनंत का उद्घाटन'—किसी भी धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव की केंद्रीय अंतर्वस्तु यही है। उस उद्घाटन का आलंबन कोई वैयक्तिक ईश्वर है या कोई निर्वैयक्तिक सत्ता अथवा संपूर्णतः भौतिक जगत् के अंतर्भूत एकत्व का बोध—इससे अनुभूति की गहराई में कोई फर्क नहीं पड़ता यदि वह कवि-कलाकार की अनुभूति है, न कि किसी संप्रदाय-विशेष की अवधारणाओं की काव्यात्मक-सी लगने वाली अभिव्यक्ति। लेकिन ऐतिहासिक धर्मों में एक अलग वर्ग उन धर्मों या संप्रदायों का भी है जो ईश्वर या उस जैसी किसी अधि-प्राकृतिक सत्ता में विश्वास नहीं करते और एक आस्तित्विक अद्वैत के बोध या करुणा और अनुकंपा जैसे समग्र अस्तित्व के साथ एकत्व या लगाव के अनुभव को ही वास्तविक धर्म मानते हैं। अद्वैत वेदांत ही नहीं, जैन या बौद्ध जैसे ऐतिहासिक और मसीहाई धर्म की अस्तित्व मात्र से निष्काम और निर्वैयक्तिक प्रेम की इस अनुभूति को ही केंद्रस्थ करते हैं। ऐसे में कविता या कला मात्र स्वयं एक साधना-प्रक्रिया हो जाती है—वह साधना

जिसका साध्य उसी में अंतर्निहित है। इसलिए यह सुखद आश्चर्य है कि केवल जैन या बौद्ध जैसे पारंपरिक अनीश्वरवादी धर्म ही नहीं, पॉल टिलिच जैसे आधुनिक धर्मशास्त्री भी धार्मिक अनुभूति को इस आस्तित्विक एकत्व अथवा लगाव की शब्दावली में ही व्यक्त करते हैं। अपने प्रसिद्ध निबंध 'धर्म का लुप्त आयाम' में गहराई के आयाम को मनुष्य के स्वभाव का धार्मिक आयाम कहते हुए टिलिच धार्मिकता को परिभाषित-व्याख्यायित करते हैं : 'धार्मिक होने का अर्थ है अपने अस्तित्व के अर्थ का प्रश्न भावावेगपूर्वक पूछना और उत्तर प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत रहना, चाहे वे उत्तर चोट ही क्यों न पहुंचाएं। धर्म की ऐसी परिकल्पना धर्म को सार्वभौमिक रूप में मानवीय बना देती है, किंतु साधारणतया जिसे धर्म कहा जाता है उससे वह निश्चित रूप से भिन्न है। उसमें देवताओं अथवा एक ईश्वर में विश्वास करने को धर्म नहीं बताया गया है, और न यह कहा गया है कि इन सत्ताओं के साथ विचार, भक्ति और आज्ञाकारिता द्वारा संबंध जोड़ने के लिए नाना प्रकार की क्रियाओं और संस्थाओं का नाम धर्म है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि इतिहास में जितने धर्म प्रकट हुए हैं, वे इसी अर्थ में धार्मिक हैं। फिर भी अपने आंतरिक स्वरूप में धर्म इस संकीर्ण अर्थ वाले धर्म से कहीं अधिक कुछ है। वह स्वयं अपने अस्तित्व और सार्वभौमिक अस्तित्व से लगाव की अवस्था का नाम है।' यह स्पष्ट करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि टैगोर के 'आलोक के अनंत के उद्घाटन' और पॉल टिलिच के 'सार्वभौमिक अस्तित्व से लगाव की अवस्था' का फर्क एक कवि-कलाकार और एक धर्मशास्त्री की शब्दावली का फर्क है—कोई आत्यंतिक भेद नहीं।

वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूति और काव्यानुभूति का यह रिश्ता कोई आर्नाल्ड, टैगोर या पॉल टिलिच अर्थात् आधुनिक संवेदना और चिंतन का ही आविष्कार नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में जब रसानुभूति को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया तो उसका प्रयोजन धार्मिक अनुभव और काव्यानुभूति की समकक्षता को ही नहीं, बल्कि दोनों के एक ही मूल स्रोत की ओर संकेत करना भी था। इसे स्पष्ट करते हुए भारतीय कलाविद् नीहाररंजन राय लिखते हैं : 'माना यह जाता है कि दोनों के लिए प्रवृत्ति और प्रेरणा मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति से निकलती हैं और वह प्रकृति है विश्व के साथ मनुष्य का घनिष्ठ और अविलंब संपर्क अनुभव करना; दूसरे शब्दों में, अस्तित्व के एक सार-तत्त्व में सम्मिलित होना।...धर्म का यह उतना ही लक्ष्य या प्रयोजन है जितना कला का। दोनों मनुष्य की उन्हीं सांकल्पिक, आत्मिक और भावात्मक शक्तियों का उपयोग करती हैं और दोनों के कतिपय साधन भी समान हैं, जैसे ध्यान अथवा तीव्र एकाग्रता का अभ्यास, मन की शांति और प्रयोजन की अनन्यता, जिनका शिल्पशास्त्रों या अलंकारशास्त्रों में उल्लेख है।' पॉल टिलिच जिसे 'सार्वभौमिक अस्तित्व से लगाव की अवस्था' कहते हैं, उसी को नीहाररंजन राय 'अस्तित्व के एक सार-तत्त्व में सम्मिलित' होने का नाम देते हैं।

भारतीय परंपरा में वाल्मीकि के जिस श्लोक को आदि काव्य की हैसियत प्राप्त है, वह जिस हद तक काव्यानुभूति है, उसी हद तक धार्मिक अनुभूति भी। जो करुणा और वेदना उसे काव्यानुभूति बनाती हैं, स्वयं उनका होना भी अस्तित्वमात्र के साथ एकात्मबोध या लगाव की तीव्र अनुभूति के बिना कहां संभव है? महाभारत की त्रासदी की जड़ पांडु को मिले शाप में है और उस शाप की जड़ लगभग उसी स्थिति में है जिसमें वाल्मीकि का श्लोक फूटता है। भवभूति जब कहते हैं कि सभी भावनाएं वस्तुतः एक ही भाव—करुणा के ही विविध रूप हैं तो क्या वह वस्तुतः करुणा के माध्यम से अस्तित्वमात्र की एकसारता के बोध को ही व्यंजित नहीं कर रहे होते हैं? एकत्व के इस अनुभव के बिना करुणा या तज्जन्य वेदना का कोई मनोवैज्ञानिक औचित्य ही कहां बनता है?

सवाल यह है कि क्या हमारे समय में मनुष्य में अस्तित्व के साथ एकसारता का बोध अथवा लगाव की तीव्र अनुभूति संभव हो रही है। समकालीन जीवन की बेतहाशा रफ्तार और आपाधापी में क्या मनुष्य को ठहरकर जीवन के बुनियादी प्रश्नों और जिए जा रहे जीवन के वास्तविक अर्थ का सवाल पूछने और उस पर विचार करने का अवकाश है? क्या वह ऐसा जीवन जीने के लिए बाध्य नहीं है जिसमें एक भी पल उसका अपना नहीं है—एक ऐसा पल, जिसमें वह अपने 'स्व' में स्थित हो सके, वास्तविक अर्थों में 'स्वस्थ' हो सके! पॉल टिलिच का कहना है कि आधुनिक मनुष्य ने 'गहराई का आयाम' गंवा दिया है और वह इसे ही धर्म का लुप्त आयाम कहते हैं। स्मरणीय है कि हर्बर्ट मारक्यूज जैसा मार्क्सवादी विचारक भी समकालीन मनुष्य को 'एकायामी मनुष्य' कहता है, जो आधुनिक कही जाने वाली औद्योगिक सभ्यता में अपने 'स्व' और 'स्वतंत्रता' गंवा बैठा है। मारक्यूज इस परिस्थिति को

'डेमोक्रेटिक अनफ्रीडम'—'लोकतांत्रिक अस्वतंत्रता'—कहता है क्योंकि जब 'स्व' ही नहीं तो 'स्वस्थ' या 'स्वतंत्र' हो पाना कैसे संभव हो!

इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि औद्योगिक सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ मनोरोगियों की संख्या में तीव्र बढ़ोतरी होती गई है। 'स्व' से विचलन का अनिवार्य परिणाम 'अस्वस्थ' होना है। धर्म के आयाम का खो जाना इस अस्वस्थता का मुख्य कारण है। प्रसिद्ध मनोचिकित्सक सी. जी. जुंग बताते हैं कि आधुनिक मनुष्य की वास्तविक तलाश उसके खोए हुए 'आत्म' की तलाश है। उनका कहना है : 'मेरे जीवन के उत्तरार्ध में मेरे पास जितने भी रोगी आए उनमें से एक भी ऐसा नहीं था जिसकी समस्या, अंतिम निष्कर्ष में, अपने जीवन के लिए एक धार्मिक दृष्टिकोण की प्राप्ति न रही हो। यह कहना ठीक होगा कि उनमें से हरेक केवल इसलिए बीमार पड़ा कि जीवंत धर्म प्रत्येक युग में अपने अनुयायियों को जो चीज देते हैं, उसे वह खो चुका था और जिन लोगों ने अपना धार्मिक दृष्टिकोण पुनः प्राप्त नहीं किया उनमें से एक भी यथार्थतः निरोग नहीं किया जा सका।' समकालीन मनुष्य की इस स्थिति के कारणों के विस्तार में जाने का अवकाश और प्रयोजन यहां नहीं है, लेकिन बर्दिएव ने जो बात कभी यूरोप के लिए कही थी, वह आज संपूर्ण मानवता पर लागू होती है कि '...मानव एक भयानक शून्यता के बीच खड़ा है। अब वह नहीं जानता कि उसके जीवन की कुंजी कहां मिल सकती है; अपने पांवों के नीचे वह किसी ठोस गहराई का अनुभव नहीं करता।' यह आश्चर्यजनक है कि टिलिच जैसे धर्मशास्त्रियों, मारक्यूज जैसे दार्शनिकों और जुंग जैसे मनोचिकित्सकों के सुर में सुर मिलाते हुए शुमाकर जैसे अर्थशास्त्री भी कहते हैं : 'हम, दरअसल, एक तत्त्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इसका इलाज भी तत्त्वमीमांसीय होना चाहिए।' हिंदी के प्रसिद्ध कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही जब कहते हैं कि 'वस्तुतः आज विश्व-मानस के सामने गहरा प्रश्न यही है कि कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में बदल दिया जाए' तो वह प्रकारांतर से इस तत्त्वमीमांसीय रोग का ही निदान और उसके उपचार का संकेत कर रहे होते हैं। टिलिच जिसे 'गहराई के आयाम का लोप', मारक्यूज 'एकायामता' और जुंग 'जीवन के धार्मिक दृष्टिकोण का खो जाना' कहते हैं, साही उसे ही 'अंतःसत्य' और 'बाह्य सत्य' के अलग-अलग हो जाने की विडंबना के रूप में देखते हैं और इसे दर्शन की नहीं, मूलतः अनुभूति की समस्या बताते हुए इसकी पहचान को ही हिंदी की नई कविता का आरंभ-स्थल मानते हैं। नई कविता के पुरोधा कवि अज्ञेय का महत्त्व उनकी दृष्टि में इसी कारण है कि उन्होंने 'इसको सूत्रबद्ध किया और पुरानी परंपरा से जोड़ा।' हिंदी की नई कविता यहां आर्नाल्ड द्वारा प्रस्तावित भूमिका का निर्वहन करने की दिशा में ही सचेष्ट होती दिखाई देती है।

पॉल टिलिच भी आर्नाल्ड की तरह यह मानते हैं कि आधुनिक सभ्यता ने जिस 'गहराई के आयाम' को खो दिया है, उसके पुनरान्वेषण की ललक सबसे अधिक साहित्य और कला में ही दिखाई देती है—यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति बहुत सूक्ष्म और तिर्यक है। मैं यहां टिलिच के एक किंचित् लंबे उद्धरण के लिए क्षमा चाहूंगा, लेकिन बात को स्पष्ट करने के लिए वह आवश्यक है। टिलिच लिखते हैं : 'इन रचनाओं की विषय-वस्तु और शैली दोनों ही में आज, मनुष्य द्वारा गहराई का आयाम गंवा देने के युग में, जीवन के अर्थ के लिए आवेगपूर्ण और प्रायः दुखद संघर्ष दिखाई पड़ता है। यह कला, साहित्य और दर्शन संकुचित अर्थ में धार्मिक नहीं है, पर उसमें धार्मिक प्रश्न हमारे युग की प्रत्यक्ष धार्मिक अभिव्यक्तियों से कहीं अधिक तीव्रता और गहनता के साथ पूछा जाता है।

'यह धार्मिक प्रश्न पूछना ही है कि कोई उपन्यासकार ऐसे आदमी का चित्रण करे जो ऐसी एकमात्र जगह पहुंचने का निष्फल प्रयत्न करे जहां उसके जीवन की समस्या सुलझ सकती है, अथवा ऐसे व्यक्ति का चित्रण, जो उसे पीड़ित करने वाले किसी अपराध की स्मृति के भार से विघटित होता जाए, अथवा ऐसे व्यक्ति का चित्रण, जिसके पास कभी कोई वास्तविक आत्मा न रही हो पर जिसे भाग्य बिना किसी प्रतिरोध के मृत्यु की ओर धकेल दे, या ऐसे आदमी का चित्रण, जो प्रत्येक वस्तु से गहरी वितृष्णा का अनुभव करता है।

'यह भी धार्मिक प्रश्न पूछना ही है कि कोई कवि अपनी आत्मा के आसुरी लोकों की वीभत्सता और आकर्षण खोलकर रख दे, या वह हमें अपने अस्तित्व के रेगिस्तानी और रिक्त स्थानों में होकर ले जाए, या वह हमें जीवन की सतह के नीचे भौतिक और नैतिक पंक के दर्शन कराए, या वह नश्वरता के गीत गाकर हमारे हृदयों में सदा विद्यमान रहने वाली उद्विग्नता को वाणी दे।

'यह धार्मिक प्रश्न पूछना ही है कि नाटककार किसी हास्यास्पद प्रतीक द्वारा जीवन की भ्रांति प्रकट करे, अथवा वह किसी के जीवन-भर के काम का अंत उसकी रिक्तता

के कारण आत्म-विनाश में होता दिखाए, अथवा वह परस्पर घृणा और अपराध के अपरिहार्य बंधन से हमारा सामना करा दे, अथवा वह हमें भग्न आशाओं और क्रमशः विनाश के अंधेरे तहखानों में से ले जाए।

'यह धार्मिक प्रश्न पूछना ही है कि कोई चित्रकार दृश्य-तल को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े करे और फिर उन्हें जोड़कर ऐसा महान चित्र बनाए जिसका हमें साधारणतः दिखाई देने वाले जगत् से कोई सादृश्य नहीं, पर जो हमारी व्यग्रता और यथार्थ का सामना करने के लिए हमारे साहस को अभिव्यक्त करता हो।'

प्रश्नों और कलाओं की यह सूची और लंबी हो सकती है, लेकिन उपर्युक्त उद्धरण यह जताने के लिए काफी है कि धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभव का अर्थ अपने अस्तित्व के अर्थ की तलाश है। इसके लिए ईश्वर जैसी किसी अधि-प्राकृतिक सत्ता में विश्वास की अनिवार्यता नहीं है। जिस प्रकार विरह-काव्य अथवा वियोग-शृंगार भी प्रेमकाव्य ही है, उसी प्रकार जीवन का अर्थ खो देने की पीड़ा और उसे पाने की विकलता भी प्रकारांतर से धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव ही है। पॉल टिलिच के ही शब्दों में, 'जो यह अनुभव करता है कि वह अर्थ के चरम स्रोत से विलग हो गया है, वह अपनी इस प्रतीति द्वारा यह प्रकट करता है कि वह केवल विलग ही नहीं है, वह फिर से संयुक्त हो चुका है।' लेकिन यह संयुक्ति किसी सरल और रूढ़िबद्ध धार्मिक विश्वास से नहीं होती, वह उस वेदना में से उपजती है जिसे कार्ल जैस्पर्स 'ईश्वर के लिए ईश्वर से भावोद्वेगपूर्ण संघर्ष' कहता है। इसलिए आधुनिक कविता या कला जो सवाल पूछती है, उसका कोई निश्चित समाधान उसके पास नहीं होता—बल्कि उसकी वेदना ही उसका समाधान हो जाती है। कविता और दर्शन में शायद यही सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर है कि दर्शन पीड़ा का समाधान किसी अवधारणा में तलाश करता है जबकि कविता—बल्कि कला मात्र—में पीड़ा की अनुभूति में ही समाधान अंतर्निहित है। होल्डरलिन ने कहा भी है : 'संकट स्वयं ही/ संजोए रहता है उद्धार।' ❖

भारतीय संस्कृति पर कुछ कहने से पहले मैं यह निवेदन कर देना कर्तव्य समझता हूं कि मैं संस्कृति को किसी देश–विशेष या जाति–विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव–संस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है। नाना ऐतिहासिक परंपराओं के भीतर से गुजरकर और भौगोलिक परिस्थितियों में रहकर संसार के भिन्न–भिन्न समुदायों ने उस महान मानवी संस्कृति के भिन्न–भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है। नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, भक्ति तथा योगमूलक अनुभूति के भीतर से मनुष्य उस महान सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है, जिसे हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं। यह संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है तथापि यह अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है। इसकी सर्वसम्मत कोई परिभाषा नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है। फिर इसको एकदम अस्पष्ट भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति हैं। इसकी अस्पष्टता का कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके संपूर्ण और व्यापक रूप को देख नहीं सका है। संसार के सभी महान तत्त्व इसी प्रकार मानव–चित्त में अस्पष्ट रूप से आभासित होते हैं। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ता का प्रमाण है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
आई एस ओ—9001-2000 द्वारा प्रमाणित संस्था

तेरापंथ धर्मसंघ की शीर्षस्थ केंद्रीय संस्था **जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा** को आई एस ओ—9001-2000 प्रमाण-पत्र प्रदान किया गया है। आई एस ओ एक अंतरराष्ट्रीय संगठन है, जिसका प्रधान कार्यालय स्विट्जरलैंड में है। लगभग 150 से अधिक देश इसके सदस्य हैं। विभिन्न औद्योगिक-व्यापारिक एवं अन्य प्रकार के संगठनों और उपक्रमों की कार्यप्रणाली एवं प्रबंधन व्यवस्था की मानदंडों के आधार पर स्तरात्मक समीक्षा करके उन्हें यह प्रमाण-पत्र प्रदान करता है। विश्व के अनेक प्रतिष्ठित संस्थान इस हेतु अपनी गतिविधियों की समीक्षा करवाकर यह विशिष्ट प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं।

जिन बिंदुओं के आधार पर यह प्राप्त होता है वे हैं—अपने कार्य-क्षेत्र में श्रेष्ठता हेतु प्रतिबद्धता, सुव्यवस्था, गुणवत्ता एवं निर्धारित मानदंडों के अनुरूप कार्यप्रणाली के आधार पर कार्य करना। इन बिंदुओं के आधार पर कोई भी संस्थान या प्रतिष्ठान अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर गतिमान हो सकता है। उपरोक्त अपेक्षाओं हेतु यह चिंतन आवश्यक है कि संस्था अपने से संपृक्त व्यक्तियों और आवश्यकताओं पर पूरा ध्यान देते हुए उन्हें पूर्ण करने हेतु निरंतर प्रयास करती रहे। कार्य के स्तर को निरंतर विकसित करने हेतु और उसकी निरंतर समीक्षा की प्रक्रिया को प्रभावी रूप से संचालित करे। संस्था का नेतृत्व और उसकी टीम उद्देश्यों और दिशा-निर्देश में एकरूपता रखते हुए संबंधित सभी लोगों का मार्गदर्शन करते हुए उन्हें उसी दिशा में आगे बढ़ाए और उन्हें उचित परिवेश के निर्माण हेतु सहयोग करे। समाज के सभी स्तर के लोगों का जुड़ाव भी सफलता हेतु अपेक्षित है। कार्य के निष्पादन में कमी पाए जाने पर उसके सुधार हेतु त्वरित कार्रवाई होनी चाहिए।

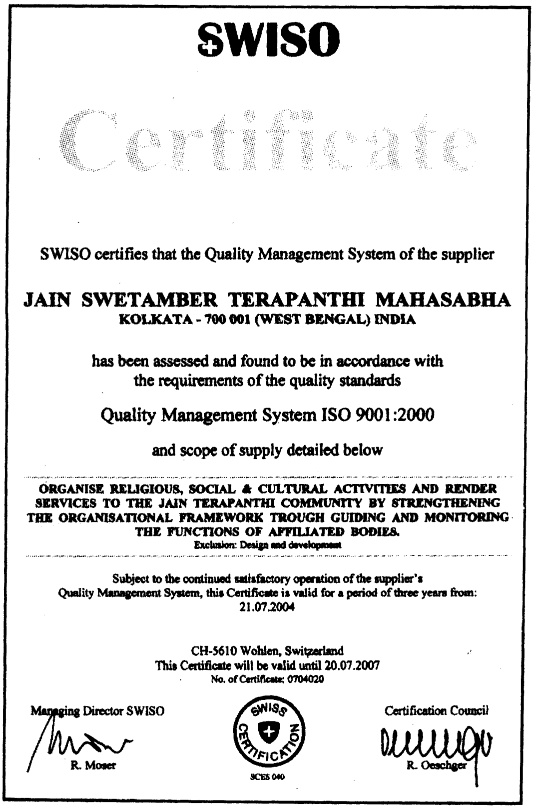
SWISO

Certificate

SWISO certifies that the Quality Management System of the supplier

JAIN SWETAMBER TERAPANTHI MAHASABHA
KOLKATA - 700 001 (WEST BENGAL) INDIA

has been assessed and found to be in accordance with
the requirements of the quality standards

Quality Management System ISO 9001:2000

and scope of supply detailed below

ORGANISE RELIGIOUS, SOCIAL & CULTURAL ACTIVITIES AND RENDER SERVICES TO THE JAIN TERAPANTHI COMMUNITY BY STRENGTHENING THE ORGANISATIONAL FRAMEWORK TROUGH GUIDING AND MONITORING THE FUNCTIONS OF AFFILIATED BODIES.
Exclusion: Design and development

Subject to the continued satisfactory operation of the supplier's Quality Management System, this Certificate is valid for a period of three years from: 21.07.2004

CH-5610 Wohlen, Switzerland
This Certificate will be valid until 20.07.2007
No. of Certificate: 0704020

Managing Director SWISO — R. Moser
SWISS CERTIFICATION — SCES 040
Certification Council — R. Oeschger

भारतवर्ष के कई बड़े औद्योगिक संस्थान एवं विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत प्रमुख प्रतिष्ठान आई एस ओ द्वारा प्रमाण-पत्र प्राप्त हैं। धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं में इस प्रकार के श्रेष्ठता प्रमाण-पत्र प्राप्त संस्थान अत्यंत गिने-चुने हैं। महासभा की विकास यात्रा में यह आई एस ओ—9001-2000 प्राप्त करना एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है।

महासभा विजन—2007 के अंतर्गत ग्रहण किए गए लक्ष्यों की संपूर्ति की दिशा में उपरोक्त प्रमाण-पत्र प्राप्ति की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। महासभा का यह चिंतन है कि हमारे धर्मसंघ की केंद्रीय संस्थाएं उपरोक्त दिशा में अग्रसर हों तो महासभा इस हेतु सहयोग के लिए प्रस्तुत है। स्थानीय स्तर पर कार्यरत सक्षम तेरापंथी सभाएं भी इन मानदंडों के अनुरूप बढ़ने हेतु आगे आकर हमारा मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन प्राप्त कर सकती हैं।

हमारे परमाराध्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के महनीय दिशादर्शन के अनुरूप युगीन अपेक्षाओं के अनुसार संस्था संचालन के द्वारा धर्मसंघ और समाज की सेवा करते हुए अपनी विकास यात्रा में निरंतर गतिमान रहेगी, ऐसा विश्वास है। ❖

अनुभूति

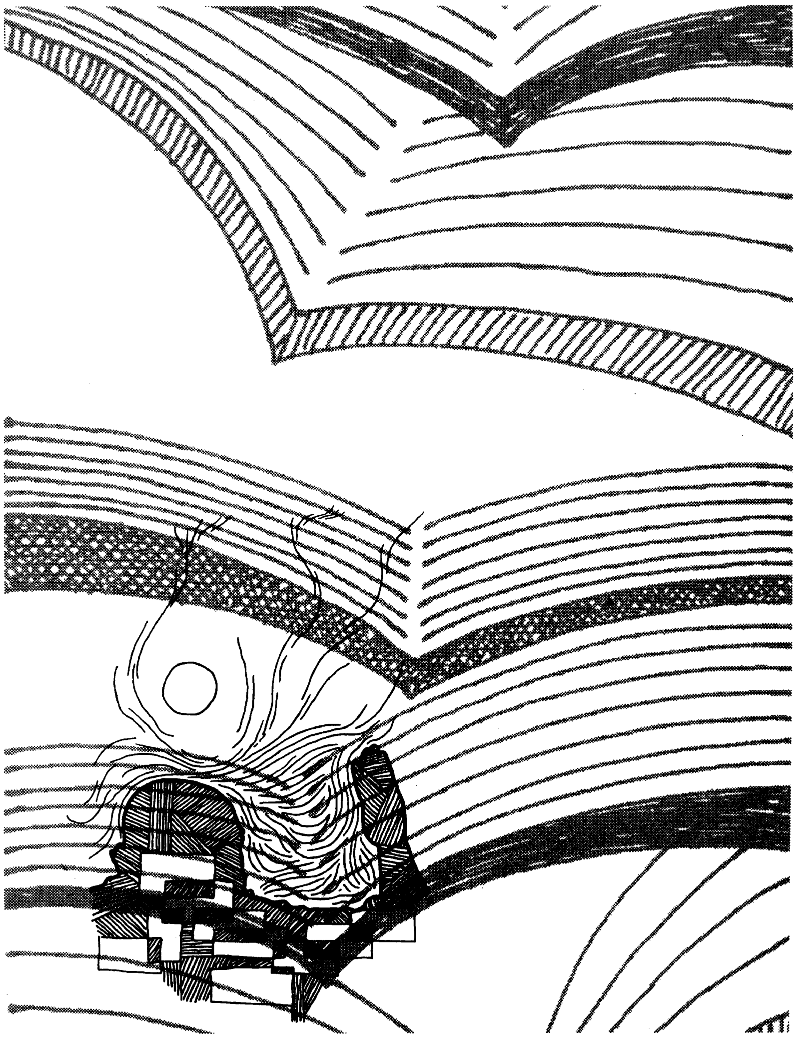

शायद आ चुकी है आखिरी घड़ी
मैंने नहीं छोड़ी कोई वसीयत—
सिवाय एक कलम के—
जो मेरी मां के लिए है।
मैं कोई नायक नहीं
नायक-विहीन इस युग में
मैं होना चाहता हूं सिर्फ एक आदमी
—गिरधर राठी

महापर्व पर्युषण : एक दृष्टि

जैन जीवनशैली के अनुसार जीवन जीने की अवधारणा कोई काल्पनिक उड़ान नहीं है। यह सहभागिता पर अवलंबित संस्कृति है। इससे लोगों की जीवनधारा बदली जा सकती है। यह प्रयोग जीवन-भर का है, पर परीक्षण की दृष्टि से उपयुक्त समय है—पर्युषण पर्व। बहुत-से लोग पर्युषण महापर्व मनाने का तरीका पूछते हैं। यदि इन आठ दिनों में जैन जीवनशैली का प्रशिक्षण और प्रयोग चले तो एक सार्थक और आकर्षक बदलाव की आशा की जा सकती है। जो लोग पर्युषण को ढर्रा या परंपरा मात्र मानकर इसकी उपेक्षा कर देते हैं, उनके लिए भी यह एक नई आहट हो सकती है।

आचार्यश्री तुलसी

भारतीय संस्कृति पर्वों, त्यौहारों और उत्सवों की संस्कृति है। इस देश का कोई भी महीना शायद ही ऐसा हो, जिसमें पर्व-त्यौहार गुंथे हुए न हों। वर्ष के कुछ कालांश तो ऐसे हैं, जिनमें एक के बाद एक पर्व या त्यौहार आते रहते हैं। प्रश्न है कि मनुष्य इतने पर्व, त्यौहार या उत्सव क्यों मनाता है? मनुष्य उल्लसित रहना चाहता है। पर्वों, त्यौहारों और उत्सवों से उसे उल्लास और आनंद मिलता है। मनुष्य इनमें रस लेता है।

पर्व के दो रूप हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक पर्वों का संबंध मुख्य रूप से परंपरा, उल्लास, आनंद के साथ जुड़ा है। कहीं-कहीं उनमें आस्था भी जुड़ जाती है। लोकोत्तर पर्व मुख्यतः आस्था, श्रद्धा के संवाहक होते हैं। परंपराएं भी उनके साथ संबद्ध हो जाती हैं, पर वे गौण रूप में।

भारतीय धर्मों में जैन धर्म प्रमुख धर्म है। जैन शब्द पर न ठहरें तो इसका उत्स प्राग्ऐतिहासिक काल तक चला जाता है। जैन परंपरा में समय को एक चक्र के प्रतीक से समझाया गया है। समय चक्र के दो भाग माने गए हैं—अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह भाग होते हैं। समय चक्र का पहला और दूसरा भाग बीत गया और तीसरा भाग लगभग संपन्नता पर था। वह समय प्रचलित कुलकर व्यवस्था में 'नाभि' का युग था। उनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम था ऋषभ। नाभि ने बदलती परिस्थितियों के अनुरूप तत्समय की व्यवस्था को बदला। अव्यवस्था और अराजकता को नियंत्रित करने के लिए शासनतंत्र का पूरा दायित्व ऋषभ को सौंपा गया। ऋषभ उस युग में प्रथम राजा बने। उन्होंने शिल्प और कलाओं का प्रवर्तन कर सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों का विकास किया।

धर्मचक्र के प्रवर्तक

दीर्घकाल तक लोक व्यवस्था के रूप में राज्य का संचालन कर ऋषभ साधु बने और साधना के सोपानों पर आरोहण करते हुए उन्होंने सिद्धि प्राप्त की। उनकी सिद्धि थी—सत्य का साक्षात्कार। साक्षात्कार होने के बाद उन्होंने जनता को भी सत्पथ दिखाया और लोग अनुयाई बने। इस प्रकार साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना हुई और संघबद्ध रूप में धर्म की आराधना का क्रम प्रारंभ हुआ। मुनि ऋषभ भगवान बन गए। वे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर कहलाते हैं। इस दृष्टि से जैन धर्म के उत्स भगवान ऋषभ हैं। ऋषभ के बाद कालचक्र का चौथा भाग प्रारंभ हुआ। तीर्थंकरों की परंपरा आगे बढ़ी। एक-एक कर बीस तीर्थंकर हो गए। यह प्राग्ऐतिहासिक काल की कहानी है। इतिहास केवल पांच हजार वर्षों का ही आकलन कर पाया। बाईसवें तीर्थंकार अर्हत् अरिष्टनेमि का संबंध श्रीकृष्ण के युग से है। वर्तमान में उपलब्ध साहित्य श्रीकृष्ण के बाद का है। उसके माध्यम से कृष्ण युग तक पहुंचा जा सकता है। जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु अर्हत् अरिष्टनेमि थे।

जैन धर्म के तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व और भगवान महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। जैन धर्म की वर्तमान में जितनी शाखाएं-प्रशाखाएं हैं, उन सबका मूल भगवान महावीर हैं। महावीर अपने युग के महान

क्रांतिकारी पुरुष थे। जातिवाद और दासप्रथा जैसी निरर्थक और रूढ़ परंपराओं के प्रतिकार में वे डट कर खड़े हो गए। इनकी जड़ें हिलाने के लिए उन्होंने कुछ विशेष प्रयोग भी किए। कच्ची बुनियाद पर खड़ी वे रूढ़ परंपराएं भुर-भुराकर गिर पड़ीं। दास्यकर्म में नियुक्त अनेक महिलाएं स्वतंत्र हो गईं। अनुसूचित जाति के व्यक्ति भी मुनि बने और सबके लिए प्रणम्य बन गए।

जैन धर्म के प्रमुख पर्व

भगवान महावीर की शासन परंपरा में मनाए जाने वाले चार मुख्य पर्व हैं—1. अक्षय तृतीया, 2. पर्युषण एवं दसलक्षण, 3. महावीर जयंती, 4. महावीर निर्वाण दिवस—दीपावली। इन चारों पर्वों का अपने-अपने स्थान पर स्वतंत्र मूल्य है। जैन समाज में ये सभी पर्व सांस्कृतिक-आध्यात्मिक गरिमा के साथ मनाए जाते हैं। अक्षय तृतीया, महावीर जयंती और दीपावली के लिए जो दिवस निर्धारित हैं—वे सर्वमान्य हैं।

पर्युषण ऐसा पर्व है जिसके लिए 'महापर्व' शब्द का प्रयोग किया जाता है। संवत्सर-वर्ष में एक बार मनाए जाने के कारण इसे 'संवत्सरी' भी कहा जाता है। यह दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी को आता है। ऋषि पंचमी का भी यही दिन है। आगम युग से लेकर आचार्य काल तक यही दिन सर्वमान्य रहा है। कालकाचार्य ने विशेष परिस्थिति में चतुर्थी को भी संवत्सरी पर्व रखा। उसके बाद एक संप्रदाय में चतुर्थी को संवत्सरी होने लगी। जबकि मूल तिथि पंचमी है। इस सचाई के साथ उनकी सहमति भी है। विशेष परिस्थिति में हुए तिथि परिवर्तन को गौण कर पूरा जैन समाज एक ही दिन 'संवत्सरी महापर्व' की आराधना करे—यह युग की मांग है। इस विषय में अनेक प्रयत्न किए गए। उदयपुर और मुंबई में सभी जैन संप्रदायों के प्रतिनिधियों की गोष्ठियां हुईं। उनमें यह निर्णय हुआ कि 'संवत्सरी' भाद्रपद शुक्ला पंचमी को ही होनी चाहिए। तब से हम बराबर पंचमी को संवत्सरी मनाते आए हैं। अलबत्ता दिनों की गणना के क्रम से चतुर्थी की संवत्सरी भी मनाते रहे हैं।

पंचमी को संवत्सरी का दिन स्थापित करने

खमत-खामणा

खमत-खामणा का अर्थ है—स्वयं क्षमा मांगना और दूसरों को क्षमा देना। इससे आत्मा हल्की होती है और विचारों में पवित्रता आती है। प्रत्येक को प्रत्येक के साथ खमत-खामणा करना चाहिए। इसमें संकोच अपेक्षित नहीं है। छोटे-बड़े का प्रश्न भी अप्रासंगिक है। पहले और पीछे का सवाल भी गौण है।

जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में कार्य करता हो, जिनके संपर्क में हो, जिनके साथ व्यवहार चलता हो, उन सबसे खमत-खामणा करना चाहिए। प्रतिपक्षियों के साथ तो अवश्य करना चाहिए। साक्षात् न हो सके तो अपने स्थान पर स्थित हो नामोल्लेखपूर्वक खमत-खामणा करना चाहिए। खमत-खामणा में जाति, पद, लिंग आदि का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। ध्यान रहे, खमत-खामणा वही कर सकता है, जिसमें ऋजुता हो। परंतु ऋजुता का अर्थ झुकना नहीं है। वह तो आत्मा की खुशबू है, गुण है।

खमत-खामणा के महत्त्व को कौन नहीं जानता, लेकिन कीर्तिशेष आचार्यश्री तुलसी ने खमत-खामणा करते हुए जो भावोद्‌गार प्रकट किए, इन उद्‌गारों से खमत-खामणा का मर्म प्रभावी रूप से प्रकट हो जाता है। अंतस का यही निर्मल, निष्कलुष भाव सही अर्थ में खमत-खामणा है। ये भावोद्‌गार हर मन को अभिप्रेरित करें, इसीलिए अवसर-विशेष पर यहां प्रस्तुत है आचार्य तुलसी का खमत-खामणा—

लोग कहते हैं—देश में अर्थ और नैतिकता की कमी है। पर मुझे लगता है, आज इससे भी बढ़कर कमी है मैत्री की। जहां भी देखें, इसका अभाव-सा लगता है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की प्रगति को सहन नहीं करता। इतना ही नहीं, वह उसके पतन की बात सोचता है। एक संस्था दूसरी संस्था पर छींटाकशी और आक्षेप करती नहीं सकुचाती। वैमनस्य की भावना उत्तरोत्तर वृद्धिगत हो रही है। इन बुराइयों का बीज है—परस्पर मैत्री, समन्वय और भ्रातृत्व का अभाव। खमत-खामणा मैत्री, समन्वय और भ्रातृत्व का पोषक-तत्त्व है।

संघ का अधिशास्ता होने के नाते मेरा अधिक

के पीछे एक मनोविज्ञान भी है। जैन धर्म की मुख्य दो परंपराएं हैं—दिगंबर और श्वेतांबर। दिगंबर परंपरा में 'दसलक्षण' मनाया जाता है और श्वेतांबर परंपरा में पर्युषण। हमारे आचार्यों की दूरदर्शिता का परिणाम है कि श्वेतांबर परंपरा-सम्मत पर्युषण महापर्व का अंतिम दिन और दिगंबर परंपरा-सम्मत 'दस लाक्षणिक' पर्व का आदि दिन भाद्रपद शुक्ला पंचमी है। इस दृष्टि से पंचमी के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लोकोत्तर पर्व होने के कारण इसे मनाने का तरीका भी लौकिक पर्वों से सर्वथा विलक्षण है।

पर्युषण पर्व के आठ दिनों में जैन लोग सांसारिक कामों से यथासंभव निवृत्त होते हैं। तपस्या करते हैं, जप करते हैं, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। इन दिनों में प्रवचन के लिए समय भी बढ़ जाता है और विषय भी बदल जाते हैं। कुछ क्षेत्रों में तो व्यापार पूर्णतः बंद हो जाता है। पूरे मनोयोग से धर्माराधना करने का समय यही होता है। धर्मस्थानों में मेला-सा लग जाता है। हजारों-हजारों धार्मिक अपनी-अपनी मान्य परंपराओं के आधार पर पर्वाधिराज पर्युषण को मनाते हैं। नौवां दिन मैत्रीपर्व के रूप में मनाया जाता है। उस दिन मन पर जमी हुई मलिन परतों को उतार पूरे हल्केपन के साथ 'खमतखामणा' किया जाता है। सचाई के दर्पण में अपना आंतरिक चेहरा देखा जाता है और भ्रातृत्व भाव की भित्ति को और अधिक मजबूत किया जाता है।

महापर्व की आराधना का एक आधार

जैन धर्म के कई संप्रदाय हैं। हर संप्रदाय की अपनी परंपराएं हैं। परंपराओं के ये परिदृश्य एक जैन धर्म को अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं। इससे अजैन लोग ही नहीं, स्वयं जैन श्रावक भी भ्रांत हो सकते हैं। युवापीढ़ी भी असमंजस में पड़ जाती है। इन स्थितियों पर विचार करते हुए एक समय चिंतन उभरा कि क्या अनेकता में भी एकता संभव है? क्या पर्युषण पर्व के माध्यम से पूरा जैन समाज उस मोड़ तक पहुंच सकता है, जहां से सबको एक नई दिशा मिल सके? क्या किसी ऐसी धार्मिक आस्था को जन्म दिया जा

व्यक्तियों से संपर्क रहता है। कर्तव्य की दृष्टि से गलती करने वाले को उपालंभ और प्रायश्चित्त देता हूं। अनुशासक यदि ऐसा न करे तो कोई भी संगठन मर्यादित और सुव्यवस्थित नहीं रह सकता।

प्रायश्चित्त किसको, किस समय, कितना देना चाहिए—यह निर्णय करना आचार्य का कार्य है। साधारण साधु इसके विधान को नहीं भी समझ सकते। इसी अनभिज्ञता के कारण कभी कोई साधु यह भी सोच सकता है कि छोटी गलती पर मुझे कड़ा उपालंभ मिला है, ऐसा क्यों? मैं अशिक्षित हूं—इसलिए? यहां सब पर समान दृष्टि नहीं है, मेरे साथ न्याय नहीं हुआ है...एक ओर सामान्य साधु का ऐसा चिंतन है और दूसरी ओर मेरा दायित्व है। मैं कड़ाई न करूं तो वह समझता नहीं और यदि करता हूं तो वह धैर्य खो बैठता है। वह नहीं सोच सकता कि व्यवस्था कैसे चलती है। कोई थोड़े उपालंभ से ही समझ जाता है, तो किसी को कठोर उपालंभ भी देना पड़ता है। दोनों ही स्थितियों में मेरी दृष्टि एक ही रहती है कि प्रमाद या गलती का सुधार हो, परिष्कार हो। मेरा लक्ष्य रहता है, किसी में बुराई न रहे जबकि उपालंभ पाने वाले की दृष्टि रहती है कि दोनों को समान उपालंभ मिले। प्रायश्चित्त लेने और देनेवाले के चिंतन में यह भेद रहना अस्वाभाविक नहीं है।

उपालंभ देने के बाद जब रात को चिंतन करता हूं तो मुझे बहुत बार दुख भी होता है। कभी-कभी तो रात को नींद भी उड़ जाती है। मैं सोचता हूं, यदि वह गलती न करता तो मुझे उपालंभ देने की आवश्यकता ही नहीं होती।

यद्यपि बाद में मैं उसे सांत्वना भी देता हूं, स्नेह भी देता हूं। पर एक बार कड़ा उपालंभ देना भी आवश्यक हो जाता है। इसलिए मैं कभी-कभी सोचा करता हूं कि अनुशासन का भार न आए तो अच्छा है। कठोर उपालंभ देते समय कुछ-न-कुछ अपनी शांति भंग होने की संभावना रहती ही है। यह मेरे कर्तव्य और प्रकृति का द्वंद्व है।

अंतर का स्नान

शिष्यों की अपेक्षाओं और भावनाओं को ध्यान में रखना मेरा कर्तव्य है। मैं कभी-कभी अपने कर्तव्य को भी भूल जाता हूं। गुरु की वत्सलता सभी चाहते हैं, पर हो

सकता है, जिस पर सांप्रदायिकता हावी न हो सके?

उपासना का जहां तक सवाल है, इसमें एकरूपता का आग्रह क्यों हो? उपासना के अश्व विविध रंग के हो सकते हैं, छोटे-बड़े हो सकते हैं। यदि उन अश्वों पर सवार होने वाले लोगों की मंजिल एक है तो वे किसी-न-किसी पड़ाव पर साथ हो सकते हैं। कौन-सा हो वह पड़ाव? इस बिंदु पर मतभेद की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु जैनत्व को उजागर करने के लिए और जैन सिद्धांतों को जीवन से जोड़ने के लिए कहीं तो हमें सहमत होना ही होगा। कितना अच्छा हो, पर्युषण महापर्व की आराधना के लिए 'जैन जीवनशैली' को आधार बनाया जा सके।

नवआयामी जैन जीवनशैली

एक समय था, जब जैनत्व की पहचान के कुछ मानक थे। अनजान लोग भी उन मानकों के आधार पर जैन लोगों की चर्या से अवगत हो जाते थे। आज वे मानक कहीं खो गए हैं। जैन लोगों के सामने पहचान का संकट बढ़ता जा रहा है। नई पीढ़ी तो अपनी संस्कृति और सभ्यता पर विस्मृति का लेप ही लगा रही है। जीवनशैली पर उपभोक्तावाद हावी हो रहा है। अहिंसा, संयम और सादगी की बातें दैनंदिन जीवन से निकल रही हैं। आहार की शुद्धता के आगे प्रश्नचिह्न लग रहे हैं। श्रमशीलता के संस्कार हाथों से छिटक रहे हैं। पारिवारिक जीवन बिखर रहा है। विश्वास के दर्पण दरक रहे हैं। व्यक्तिगत आग्रह बढ़ रहे हैं। धर्मोपासना के लिए आरक्षित समय को टी. वी. की संस्कृति निगल रही है। सहोदर बंधुओं के सुख-दुख में भी भागीदारी नहीं रही, तब साधर्मिकता की सोच को पक्षाघात क्यों नहीं होगा?

जैनत्व के अस्तित्व को खतरा पैदा करने वाली समस्याओं का समाधान क्या हो सकता है? इस संदर्भ में सघन चिंतन के बाद एक नवआयामी जैन जीवनशैली का प्रारूप तैयार हुआ। उसके नौ आयाम हैं—सम्यक् दर्शन, अनेकांत, अहिंसा, समण संस्कृति, इच्छा परिमाण, सम्यक्

सकता है कि व्यस्तता में किसी की ओर मेरा ध्यान न गया हो। किसी के स्वास्थ्य के विषय में भी नहीं पूछा गया हो। यह प्रमाद हो जाता है। यद्यपि, मैं यह भी मानता हूं कि मेरे पूछने मात्र से कोई स्वस्थ नहीं हो जाता। फिर भी मेरे दो वाक्य किसी के लिए पाथेय बन जाते हैं और वे शांति भी महसूस करते हैं—ऐसा अनुभव मुझे जब-तब होता रहता है। इस दृष्टि से मेरा पूछना आवश्यक बन जाता है।

आज मुझे रह-रहकर कई बातें याद आ रही हैं। अंतरात्मा की आवाज अनायास ही निकल रही है। साधुओ! यात्रा में तुम लोग मेरे साथ रहते हो। पद-यात्रा से किसी-किसी के पेट में दर्द भी हो जाता होगा। यात्रा में कौन थक गया है, चलने की किसी की क्षमता है या नहीं,...इन बातों पर मैं बहुधा ध्यान नहीं दे पाता। केवल आदेश देता हूं—'तैयार हो जाओ। दस-बारह मील चलना है।' ऐसी स्थिति में किसी को कठिनाई/असुविधा भी हो सकती है।

कभी-कभी किसी से आवश्यक बात भी नहीं कर पाता हूं। रात में देर से सोने के कारण मेरे आस-पास सोने वालों की नींद का बाधक भी बन जाता हूं। प्रसंग आ गया तो एक बात और बता दूं। कभी-कभी तो आवश्यक कार्यवश प्रहर रात्रि के बाद दो-दो घंटे और निकल जाते हैं। यह सोचकर कि दूसरों की नींद में कुछ समय के लिए और बाधक न बन जाऊं, बैठे-बैठे माला-जाप करने की बात को भी तब गौण कर देता हूं।

साधु गोचरी लेकर आते हैं और मुझे दिखाने के लिए खड़े रहते हैं। मैं कार्य में व्यस्त होने के कारण उनकी ओर ध्यान नहीं दे पाता। उस समय भूल जाता हूं कि छोटे साधुओं को भूख लग गई होगी। कई बार विशेष प्रकरण चलने से व्याख्यान में भी देर हो जाती है। इससे भी साधु-साध्वियों को असुविधा हो सकती है।

पास में रहें या दूर रहें—आचार्य के नाते गण के सभी शिष्यों का योगक्षेम करना मेरा कर्तव्य है। उपेक्षा का भाव न होने पर भी कार्य-व्यस्तता के कारण कभी किसी की ओर अपेक्षित ध्यान नहीं भी दे पाता। आज मैं सभी साधु-साध्वियों से ज्ञात-अज्ञात में हुए किसी भी प्रकार के अप्रिय/कटु व्यवहार के लिए हृदय की ऋजुता और नम्रता से खमत-खामणा करता हूं। वे मुझे क्षमा दें, मैं उन्हें क्षमा

आजीविका, सम्यक् संस्कार, आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति, साधर्मि वात्सल्य।

प्रत्येक आयाम विस्तृत व्याख्या मांगता है, ऐसा होना भी चाहिए। पर, पहले जैन समाज इस की महत्ता का अनुभव तो करे। आवश्यकता हो तो इस संबंध में व्यापक बहस आमंत्रित की जा सकती है। निर्धारित नौ आयामों में परिष्कार किया जा सकता है। इसके लिए कार्यशालाओं का आयोजन हो सकता है, प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। शर्त एक ही है कि संस्कारों की गीली मिट्टी को सही आकार में ढालने वाले सांचे का समुचित उपयोग हो।

जैन जीवनशैली से होगा समस्याओं का समाधान

जैन जीवनशैली के अनुसार जीवन जीने की अवधारणा कोई काल्पनिक उड़ान नहीं है। यह सहभागिता पर अवलंबित संस्कृति है। इससे लोगों की जीवनधारा बदली जा सकती है। यह प्रयोग जीवन-भर का है, पर परीक्षण की दृष्टि से उपयुक्त समय है—पर्युषण पर्व। बहुत-से लोग पर्युषण महापर्व मनाने का तरीका पूछते हैं। यदि इन आठ दिनों में जैन जीवनशैली का प्रशिक्षण और प्रयोग चले तो एक सार्थक और आकर्षक बदलाव की आशा की जा सकती है। जो लोग पर्युषण को ढर्रा या परंपरा मात्र मानकर इसकी उपेक्षा कर देते हैं, उनके लिए भी यह एक नई आहट हो सकती है।

जैन जीवनशैली न कोई आंदोलन है, न कोई नारा है, और न ही कोई घोषणा-पत्र है। यह एक मार्ग है—जिस पर चलना जैनत्व को जीना है। जिनके मन में ऐसा जीवन जीने की आकांक्षा हो, वे दृढ़ संकल्प के साथ आगे आएं। वे स्वयं ऐसा जीवन जीएं और दूसरों को प्रेरणा दें। जिनको ऐसा जीवन जीने में रस है, वे पर्युषण महापर्व के अवसर पर छोटा-सा प्रयोग करके अवश्य देखें। यह प्रयोग व्यक्ति, समाज और देश के लिए लाभप्रद होगा, सांस्कृतिक और सामाजिक विकृतियों का निर्मलीकरण करेगा तथा आधुनिक परिस्थितियों से उपजी हुई समस्याओं को समाधान देगा, ऐसा विश्वास है। ❖

देता हूं। इसी प्रकार जो साधु-साध्वियां यहां नहीं हैं, दूर-दूर स्थित हैं, उन सबसे भी यहां बैठा हुआ शुद्ध मन से खमत-खामणा करता हूं। मेरी प्रकृति ऐसी नहीं कि मैं किसी बात की गांठ बांधकर रखूं। कभी किसी के प्रति मन में कोई विचार आता है तो उसे कह देता हूं। वर्षों तक किसी बात की गांठ बांधकर रखने की प्रकृति को मैं जघन्य-वृत्ति मानता हूं। यह वृत्ति व्यक्ति के लिए अत्यंत घातक है।

श्रावक-श्राविकाएं दूर-दूर से दर्शन-सेवा के लिए आते हैं। सबकी आर्थिक स्थिति समान नहीं होती। रेल की भी मुसीबतें होती हैं। इसके उपरांत भी वे उत्साह के साथ आते हैं। यथाशक्ति सेवा भी करते हैं। कई केवल दर्शन, सेवा, व्याख्यान आदि से ही संतुष्ट रहते हैं। कुछ-कुछ विशेष समय भी लेते हैं। यथाशक्ति उन्हें समय देता भी हूं। किन्हीं-किन्हीं को समय नहीं भी दे पाता। यह भी संभव है कि अपनी धुन में रहने के कारण किसी-किसी की वंदना भी स्वीकार न की हो। कभी-कभी तो लोग वंदना करके जाने लगते हैं, तब अचानक उनकी ओर ध्यान जाता है और मैं वंदना स्वीकार करता हूं। तब वे भाई-बहिन वापस आते हैं और मैं उनसे बात भी कर लेता हूं। मेरे दो शब्द भी उनके लिए पाथेय बन जाते हैं। वे अपने आगमन को सार्थक मानते हैं।

उस समय मुझे अत्यंत कष्ट होता है, जब मैं बहनों को परस्पर इस आशय की बातें करते सुनता हूं कि एक मास सेवा की, डेढ़ मास सेवा की,...पर आचार्यश्री से दो शब्द भी न बोल सकी। आज मैं सभी श्रावक-श्राविकाओं से खमत-खामणा करता हूं।

यह मेरे अंत:—हृदय की आवाज है। केवल प्रदर्शन या कृत्रिमता नहीं। केवल प्रदर्शन और कृत्रिमता हो तो उसका मूल्य ही क्या है। मैं आप लोगों से भी यही कहता हूं, आप सभी परस्पर हृदय खोल कर खमत-खामणा करें। अपने बच्चों में भी संस्कार डालने का प्रयत्न करें। संस्कार डालने का मार्ग है—पाक्षिक खमत-खामणा। पाक्षिक दिन आप पहल कर स्वयं खमत-खामणा करें और उनको उसका अर्थ समझाएं।

खमत-खामणा की पद्धति को समाज यदि विशुद्ध रूप से अपनाए तो मेरा विश्वास है कि वैमनस्य विदा हो सकता है। ❖

श्रद्धा और तर्क का समन्वय

साध्य-साधन की मीमांसा में उनका चिंतन एकदम स्पष्ट है—साध्य शुद्ध है तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। मोक्ष साध्य है तो साधन संयम होगा। तपस्या करना साध्य है तो लड्डू के लिए तपस्या करना धर्म नहीं। देव-गुरु-धर्म की उपासना साध्य है, साधन अहिंसा है। हिंसा से उपासना करना अशुद्ध है। हिंसा अंततः हिंसा है—भले प्राणी को बचाने के लिए हो, उपासना के लिए हो या किसी अन्य उद्देश्य से। साध्य-साधन की एकता को उन्होंने सैद्धांतिक रूप दिया।

साध्वी नगीना

भगवान महावीर के बाद आचार्यों की लंबी परंपरा रही है। आचार्य भिक्षु उसी परंपरा के क्रांतदर्शी आचार्य थे जिन्होंने अपने मौलिक चिंतन, अनुभव-प्रौढ़ता और दूरगामी सोच के द्वारा नए-नए मूल्यों की प्रस्थापना की। उनकी साधना अप्रतिम थी। तर्कशक्ति पैनी थी। श्रद्धा के मूर्त रूप थे। उनकी संपूर्ण आस्था महावीर को समर्पित थी। उनके जीवन-प्रसंगों से स्पष्ट है कि आस्था और सत्य-शोध की जिज्ञासा सदा समानांतर रही।

व्यक्ति आता है। युग के कैनवास पर अपनी छवि अंकित कर चला जाता है। किंतु कुछ व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जिनके विचार चिरजीवी होते हैं। अनेक कालखंड भी उन्हें दबा नहीं सकते, मिटा नहीं सकते। व्यक्ति का मूल्यांकन उसके विचारों पर ही निर्भर है और विचारों की चिरजीविता का आधार सत्य है।

वह समय उन्नीसवीं सदी का उदय काल था और भिक्षु की धर्मक्रांति, समय की मांग थी। सैद्धांतिक मानक तब बदल चुके थे। पूर्व स्थापित मिथ्या धारणाओं के कुहासे से सार्वभौम सत्य ओझल हो रहा था। चर्यागत बिखराव साधना का अभिन्न अंग-सा बन गया। आचार्य भिक्षु की प्रतिभा ने उन सबको अस्वीकार कर दिया। बिखरे हुए मानकों के समीकरण के लिए वे कृतसंकल्प हो गए। यह कार्य भगीरथ प्रयत्नों से कम न था। एक तरफ पूरा समाज, दूसरी ओर अकेला व्यक्तित्व—किंतु वे लौहपुरुष थे। उन्होंने कहा—मुझे गुरु प्रिय है, सत्य उससे भी प्रिय है। भारतीय चिंतन जगत् में उनकी विचार क्रांति ने अभूतपूर्व प्रतिष्ठा पाई।

आचार्य भिक्षु चरमोत्सव
अभिवंदना
भाद्रपद शुक्ला त्रयोदसी
26 सितंबर, 2004

आचार्य भिक्षु की प्रज्ञा जाग्रत थी। आगमों की गहन मीमांसा उन्होंने की। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो संभवतः हम अध्यात्म के हार्द का स्पर्श भी नहीं कर पाते। उन्होंने सिद्धांतों की व्याख्या को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया। महावीर को समझने का वातायन है—उनकी व्याख्याएं, उनके शब्द। शब्दों की अंगुली पकड़कर उनके अंतरावकाश में झांक सकते हैं। तत्त्वों की अतलांत गहराई का अंदाज लगा सकते हैं।

महावीर का मुख्य सिद्धांत था—'अहिंसा परमोधर्मः'। यह प्रसिद्ध सूत्र है। इस पर काफी चिंतन-मनन चला। अनेक परिभाषाएं हुईं। अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष का जहां प्रश्न है, वहां कोई उलझन ही नहीं, तर्क नहीं। सीधा-सपाट है। किंतु विधेयात्मक स्वरूप में विचारभिन्नता है।

अहिंसा का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। कुछ लोग जीव-रक्षा को अहिंसा मानते हैं। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के दोनों पक्षों पर अपना स्पष्ट मंतव्य प्रस्तुत किया। इसे गहराई से समझना होगा। यहां दो विकल्प हैं। कभी जीव-रक्षा होती है, संयम नहीं होता। कभी संयम होता है, पर जीव-रक्षा नहीं। अहिंसा का उद्देश्य जीव-रक्षा हो तो आत्म-शुद्धि का लक्ष्य गौण हो जाएगा।

अहिंसा के क्षेत्र में आत्म-शुद्धि प्रमुख है, जीव-रक्षा प्रासंगिक फल है। हिंसा-अहिंसा का संबंध सत्-असत् प्रवृत्ति के साथ है। जीव-रक्षा उसकी कसौटी नहीं।

अहिंसक व्यक्ति का दृष्टिकोण व्यापक होता है। वह प्राणी मात्र के प्रति संयम रखकर जीव-रक्षा करता है।

सामाजिक व्यक्ति का क्षेत्र अलग है। वह उपयोगिता के आधार पर अपेक्षित जीवों की रक्षा करता है। अनुपयोगी की हिंसा कर डालता है। यह उपयोगिता-अनुपयोगिता का अंतर है। अहिंसा सिद्धांत के स्तर पर यह मान्य नहीं।

यह जीवन प्रवृत्तिमूलक है। मनुष्य परिवार, समाज, राष्ट्र से जुड़ा होता है। प्रवृत्ति की अपनी अनिवार्यताएं हैं। प्रवृत्ति अच्छी है या बुरी—इसे मापने का मानदंड कभी भी एक नहीं हो सकता है। लोक भिन्न रुचि के हैं। खाना-पीना, चलना, उठना-बैठना आदि प्रवृत्तियों में हिंसा स्वाभाविक रूप में होती है। इसे पाप मानें तो जीवन चलना असंभव हो जाएगा।

आचार्य भिक्षु ने इस प्रश्न का समाधान हिंसा-अहिंसा के बीच स्पष्ट भेद रेखा खींचकर किया है। मनुष्य जो-कुछ करता है—उसकी बाध्यता है, अनिवार्यता है। वह संपूर्ण रूप से हिंसा नहीं छोड़ सकता, यह उसकी दुर्बलता है। किंतु अपने स्वार्थ के लिए या सुविधा के लिए सिद्धांत के साथ समझौता करना दोहरी भूल है।

कुछ लोग लौकिक और आध्यात्मिक भेद को मान्य नहीं करते थे। उनके अभिमत से भेद करने से जीवन खंड-खंड हो जाता है। इससे धर्म और लौकिक कर्तव्य के बीच दरार पड़ जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह चिंतन अहेतुक है। लौकिक-लोकोत्तर का भेद सामाजिक सहयोग का विघटन नहीं, बल्कि संयम-असंयम का पृथक्करण तथा बंधन-मुक्ति का विश्लेषण है।

उन्होंने कहा—

हिंसा री करणी में दया नहीं छै,
दया री करणी में हिंसा नहीं।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी,
ज्युं तावड़ो न छांही

अन्य वस्तुओं में मिलावट हो सकती है, किंतु दया और हिंसा का मिश्रण नहीं हो सकता। धूप एवं छांह का मिश्रण हो तो दया और हिंसा का मिश्रण भी हो सकता है। पूर्व और पश्चिम भिन्न दिशाएं हैं। ये कभी एक नहीं हो सकती। वैसे ही दया और हिंसा के बीच कभी एक्य संभव नहीं।

दया, अहिंसा, करुणा, सानुक्रोश भले पर्यायवाची शब्द हों, पर अर्थभेद समझे बिना यथार्थ सत्य की उपलब्धि नहीं होती। गाय-भैंस, आक-थोहर—चारों में ही दूध है। रूप और नाम साम्य है, फिर भी गाय-भैंस के दूध का स्थान, आक-थोहर का दूध नहीं ले सकता। दूध की अनुकंपा भी कौन-सी लौकिक है, कौन-सी लोकोत्तर— दृष्टिकोण साफ करना होगा। लौकिक दया या अनुकंपा समाजसम्मत है। लोकोत्तर दया या अनुकंपा मोक्ष की साधक है।

आचार्य भिक्षु ने हर तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसा, प्रतिभा की छैनी से तराशा और आत्मा की आवाज को सुना। लोक-व्यवहार में विचित्र क्यों न लगे, पर उनकी व्याख्याएं महावीर वाणी से बाहर नहीं हैं। अहिंसा पर उन्होंने दो और दो चार की तरह स्वतंत्र चिंतन दिया है।

आचार्य भिक्षु के सिद्धांत को समझने के लिए निश्चय और व्यवहार—दो दृष्टियां चाहिए। जहां वस्तु के मूल स्वरूप को समझना है तो निश्चय दृष्टि का उपयोग होता है और वस्तु के स्थूल पक्ष की पहचान के लिए व्यवहार दृष्टि जरूरी है। स्वार्थी लोगों ने अहिंसा के शुद्ध स्वरूप को बदल दिया। बहुतों के लिए अल्प की हिंसा, बड़ों के लिए छोटों की हिंसा विधेय बन गई। अहिंसा के क्षेत्र में बल-प्रयोग विहित माना गया। अशुद्ध साधन से शुद्ध साध्य की धारणा पुष्ट बनी। अहिंसा को संकीर्णता के घेरे में आबद्ध कर दिया गया। अध्यात्म से उसका संबंध टूट गया।

आचार्य भिक्षु की आत्मा तिलमिला उठी। सैद्धांतिक उपेक्षा सह्य नहीं हो सकी। उन्होंने उक्त विचारधाराओं की टीका की। कहा—एकेंद्रिय को मारकर पंचेंद्रिय का पोषण संसार की रीत है, पर यह लौकिक व्यवहार है। अध्यात्म के धरातल पर छोटे-बड़े का भेद नहीं, सबको जीने का समान अधिकार है। हिंसा गृहस्थ के लिए अनिवार्य हो सकती है, पर उसे अहिंसा घोषित करना वास्तविक सत्य से आंख मींचने जैसा है। अपवादों के आवरण में लिपटी अहिंसा को भिक्षु ने खुला आकाश दिया।

उन्होंने कहा—

जीवां ने मारे जीवां ने पोषे, ते तो मारग संसार नो जाणो।
तिण मांहे जो धर्म बतावे, ते पूरा छै मूढ़ लयाणो॥

जीव-हिंसा में धर्म बताने वाले भले अपने को अहिंसक मानें, वस्तुतः वे हिंसा के ही पोषक हैं। इतनी स्पष्ट बात कहने वाले संभवतः भगवान महावीर के बाद आचार्य भिक्षु ही हो सकते हैं। क्योंकि उनके पास श्रद्धा का अटूट बल था। वे जितने तार्किक थे, उतने ही श्रद्धानिष्ठ थे। श्रद्धा और तर्क का समन्वय ही दृष्टिकोण को पूर्ण बनाता है। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा, दया और परोपकार की मौलिक व्याख्याएं देकर अहिंसा के स्वरूप को खंडित होने से बचा लिया।

आचार्य भिक्षु सत्य-संधित्सु थे। सत्य को प्रकट करने में उन्हें कभी झिझक नहीं हुई। दया और हिंसा को एक मानने वालों को कहा—

जिन मारग की नींव दया पर,
खोजी हुवे तो पावे।
जो हिंसा कियां थी धर्म हुवे तो,
जल मथियां घी आवे॥

इसमें दया का निषेध नहीं। उनकी भाषा में जहां अहिंसा है, वहां दया नियमतः है। दया में अहिंसा की भजना है। पानी के मंथन से मक्खन नहीं निकलता, वैसे ही हिंसा में दया तीन काल में भी संभव नहीं। आत्म-दया— वस्तुतः वही दया है। संत तुलसीदासजी ने भी कहा है—

तुलसी दया न पार की,
दया आप की होय।
तू किणने मारे नहीं,
तो तने न मारे कोय॥

और आचार्य भिक्षु कहते हैं—

जीव जीवे तो दया नहीं,
मरे ते हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही,
नहीं मारे ते दया गुण खान॥

हिंसा नहीं होगी तो जीव-रक्षा स्वतः हो जाएगी। दयाशून्य अहिंसा या अहिंसाशून्य दया कभी नहीं होती। दया के साथ अहिंसा की व्याप्ति है, इनका शाश्वत संबंध है। व्यावहारिक दया की पृष्ठभूमि में राग-द्वेष, मोह, अज्ञान छिपा है। पारमार्थिक और व्यावहारिक दया में अंतर है। पारमार्थिक में आत्मा प्रधान है, शरीर गौण। दूसरी में शरीर मुख्य, आत्मा गौण। भोजन-आपूर्ति, वाहन-व्यवहार, चिकित्सा-व्यवस्था, सुरक्षा आदि कार्य व्यवहार के अंतर्गत हैं। अहिंसा, सत्य आदि पारमार्थिक हैं।

सामान्य व्यक्ति के लिए समस्या यह है कि एक व्यक्ति एक कार्य को धर्म कहता है, दूसरा नहीं। ऐसी स्थिति में हिंसा-अहिंसा का मानदंड क्या हो? आचार्य भिक्षु के अभिमत से मानदंड है—संयम और असंयम। संयम है तो वह सत्प्रवृत्ति है। असंयम असत् प्रवृत्ति है। असत् प्रवृत्ति राग-द्वेषात्मक रूप होती है। राग-द्वेष हिंसा है।

साध्य-साधन की मीमांसा में उनका चिंतन एकदम स्पष्ट है—साध्य शुद्ध है तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। मोक्ष साध्य है तो साधन संयम होगा। तपस्या करना साध्य है तो लड्डू के लिए तपस्या करना धर्म नहीं। देव-गुरु-धर्म की उपासना साध्य है, साधन अहिंसा है। हिंसा से उपासना करना अशुद्ध है। हिंसा अंततः हिंसा है—भले प्राणी को बचाने के लिए हो, उपासना के लिए हो या किसी अन्य उद्देश्य से। साध्य-साधन की एकता को उन्होंने सैद्धांतिक रूप दिया।

मार्क्स ने कहा—यदि साध्य को पाना है तो साधन भले शुभ हो या अशुभ—चिंता नहीं। यदि शुभ साधन से साध्य की प्राप्ति हो तो अच्छा है, अन्यथा साध्य सिद्ध करने के लिए अशुभ साधन का सहयोग लिया जा सकता है।

महात्मा गांधी ने साधन-शुद्धि की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा—हिंदुस्तान की स्वतंत्रता मेरा लक्ष्य है, किंतु अहिंसा से मिले तो ही स्वीकार्य है, अन्यथा नहीं। साध्य और साधन की शुद्धि पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी का मतैक्य एक दिशा-दर्शन है।

आचार्य भिक्षु की प्रतिभा प्रखर थी। अनुभव गहरा था। उनमें बुद्धि और अनुभव का अनूठा समन्वय था। कोरी बुद्धि तर्क पैदा करती है, कोरा अनुभव मूक होता है। उन्होंने जो-कुछ कहा अनुभव की प्रयोगशाला का उत्पादन है। अनुभव के छकने से छना हुआ तथ्य है। उनके इन्हीं सिद्धांतों की उपयोगिता वर्तमान में सिद्ध हो रही है। ❖

धारण करने का गुण होने के कारण ही धर्म को 'धर्म' कहते हैं। 'धर्म' प्रजाओं को धारण करता है—उन्हें जीवित रखता है। अतः जो कर्म जीवन-धारण से युक्त हो वही धर्म है, ऐसा निश्चय जानो।

—महाभारत

मोहन से मुदित, मुदित से महाश्रमण

श्रम और साधना के क्षेत्र में युवाचार्यश्री महाश्रमण आज भी संतोष करके नहीं बैठे हैं। वे कठोर परिश्रम और कठिन तपश्चर्या में रुचि रखते हैं। आत्म-साक्षात्कार की भावना से ओतप्रोत युवाचार्यजी वीतराग भाव से सतत जागरूकता को ही अपनी सफलता का मूल मंत्र मानते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अनुशासना और छत्रछाया में वे अत्यंत आनंद का अनुभव करते हैं। चिलचिलाती धूप में झुलसता राही तरु की छाया में आकर जैसे राहत की सांस लेता है, वैसे ही शरणागत भविजन आपका आश्रय पाकर अति आह्लाद और आत्मतोष की अनुभूति करते हैं।

मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'

एक दिन मां ने बालक से पूछा—'बेटा, आजकल क्या सीख रहे हो?' 'अर्हत्-वंदना'—बालक ने धीमे-से जवाब दिया। 'क्या मुझे भी सिखाओगे?'—मां ने पूछा! 'क्यों नहीं, अवश्य सिखाऊंगा'—बालक ने मुस्कराते हुए कहा।

दस वर्ष का मोहन मां के पास बैठकर प्रतिदिन अर्हत्-वंदना करता है और मां को भी उसका एक-एक पद सिखाता है। जहां-कहीं समझ में नहीं आता तो मोहन दीवार पर कोयले से लिखकर मां को समझाता है। यह मोहन कौन है? यही वह 'मोहन' है, जिसकी मोहनी मूरत पर माता यशोदा सब-कुछ न्यौछावर करती रही?

गौर वर्ण, छोटा कद, कमल पंख सी भौंहें, आंख का गोलक 'ब्राइट ब्लेक' है, तो परिधि 'ब्राइट व्हाइट'। खड़े कर्ण, जो प्रतिपल स्वयं के जागरूक होने का संकेत देते हैं। चेहरे व भाल की कांति ऐसी कि सबको अपनी ओर आकृष्ट करे। गजराज-सी निर्भीक चाल, चीते-सी फुर्ती, पर किसी सिद्ध योगी-सी स्थिरता—सचमुच देखने लायक है।

जिनकी स्पष्ट व अस्खलित वाणी है, बालक-सा सरल मन, मोहक-कोमल तन, लेकिन गहन एवं गंभीर चिंतन और ठोस अध्ययन, जीवन की हर गतिविधि में समय प्रबंधन और मन व इंद्रियों पर विस्मित करने वाला नियमन।

यह कौन है! जो मानवता की सेवा और जिन-शासन प्रभावना में सतत सक्रिय, कर्तव्यों के प्रति पूर्ण जागरूक, गुरु के प्रति सर्वात्मना समर्पित, जिन-वाणी पर जीवन अर्पित, संसार से उपरत और संयम में रत तथा स्वकल्याण के साथ समाजकल्याण का भाव मन में संजोए हुए है। जिसका दिल करुणा से भीगा हुआ, मन ऋजुता से रंगा हुआ, तन संयम से सधा हुआ और भाव श्रेणी आरोहण करने में लगा हुआ। जिसका सात्त्विक विचार, कोमल व्यवहार और निर्मल आचार है। संयमित भाषा, सीमित आशा और मोक्ष की प्रबल पिपासा है। जो समयज्ञ है, आगमज्ञ है, प्राच्य विधाओं का मर्मज्ञ है।

ये हैं तेरापंथ धर्मसंघ के नवम युवराजश्री महाश्रमणजी।

युवाचार्यश्री महाश्रमण तेरापंथ धर्मसंघ के ग्यारहवें भावी अनुशास्ता हैं और तेरापंथ परंपरा में आचार्यों द्वारा विधिवत मनोनीत युवाचार्यों की कड़ी में उनका स्थान नौवां है। आचार्य भिक्षु तत्समय के संतों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रथम संघ-शास्ता बने थे। सातवें आचार्य डालगणी युवाचार्य के रूप में घोषित ही नहीं हुए, क्योंकि छट्ठे आचार्य माणकगणी के आकस्मिक देहावसान के कारण यह संभव नहीं हो सका। संघ के संतों ने ही उन्हें अनुशास्ता मनोनीत किया। इस प्रकार दो आचार्यों को युवाचार्य होने का कोई मौका ही नहीं मिला। वर्तमान में तेरापंथ के दसवें अनुशास्ता आचार्यश्री महाप्रज्ञ हैं। इन्हीं के द्वारा विधिवत घोषित और मनोनीत किए जाने पर युवाचार्य के रूप में उनका क्रम नौवां ही होता है।

युवाचार्य मनोनयन दिवस
भाद्रपद शुक्ला द्वादशी
25 सितंबर, 2004
—— अभिवंदन ——

युवाचार्य महाश्रमण का जन्म आम आदमी की तरह ही सामान्य जैन कुल में हुआ। पिता झूमरमल जी दूगड़ और माता नेमादेवी दूगड़ की ये सातवीं संतान हैं। 13 मई, 1962 को राजस्थान के चूरू जिले के सरदारशहर नगर में आपका जन्म हुआ। सांसारिक रीति-रिवाजों के अनुसार उनका भी नामकरण किया गया। बालक का नाम रखा मोहन। बाल्यावस्था में अन्यान्य बालकों की भांति उनमें भी बाल-सुलभ चंपलताएं थीं। चंचलता के कारण कई बार मां को कड़ा उपालंभ भी मिलता ही था। अधिक चंचलता का एक कारण यह भी था कि आठ भाई-बहनों में उनका क्रम सातवां था। भाइयों में सबसे छोटे थे, इसलिए सबके लाडले भी थे।

सात वर्ष के होते-होते मोहन के सिर से पिता का साया एकाएक उठ गया। अचानक देहावसान से माता पर दोहरा दायित्व आ गया। पारिवारिक दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करते हुए मां नेमादेवी ने बालक मोहन में सुसंस्कार भरने में कोई कोताही नहीं बरती। वे स्वयं तो संस्कार देती ही थीं, साधु-संतों के संपर्क से भी बालक को सुसंस्कार मिलने में कोई कमी नहीं रही।

बालक के मन में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। मां को किंचित् आश्चर्य हुआ कि जो बच्चा समझाने पर भी बार-बार शैतानी-झगड़ा करता रहता था, वही संतों की संगत से ज्ञान-ध्यान करने लगा। मां को आश्चर्यमिश्रित खुशी हुई।

अपने लाडले की बढ़ती धार्मिक भावना को देख माता नेमादेवी का मन हर्षाभिभूत था। माता की प्रेरणा और संतों की संगत व उपदेश से बालक के मन में दीक्षा के भाव उमड़ने लगे। बालक मोहन ने एक दिन मां से कहा—मां, यदि मैं साधु बन जाऊं तो कैसा रहे? मां ने बात को गंभीरता से न लेते हुए कह दिया—ऐसी तकदीर कहां है? पर, बालक का वैराग्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।

जैन दर्शन में पांच समवाय बतलाएं हैं—काल, स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का उल्लेख भी आता है और जब इनका अनुकूल योग मिलता है तभी किसी कार्य की सम्यक् निष्पत्ति होती है। उपादान और निमित्त का महत्त्व भी सर्वविदित है। हम जानते हैं कि उपादान के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। किसी भी कार्य की निष्पत्ति में उपादान तो मूल है। लेकिन मूल भी तभी फल दे सकता है जब उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अनुकूल निमित्त प्राप्त हो। सफलता के शिखर पर पहुंचने में उपादान और निमित्त—दोनों की अपनी महत्ता है।

बालक मोहन अब किशोर वय का हो गया। वह बारहवें वर्ष में प्रवेश कर चुका था। उसके अपने पूर्व अर्जित व संचित सुकृत का योग तो था ही, साथ ही मां की प्रेरणा ने भी उसमें सदाचार और सद्संस्कारों को जगाया था, भीतर निहित वैराग्य को संतों ने प्रकट करने व जागृत करने के लिए संयम का उपदेश दिया था। फलतः बारह वर्ष की अवस्था में आचार्य तुलसी की आज्ञा से 5 मई, 1974 को सरदारशहर में किशोर मोहन ने मुनि सुमेरमलजी 'लाडनूं' के कर-कमलों से दीक्षा व्रत स्वीकार कर लिया।

कोई तीस वर्ष पूर्व बालक मोहन ने तेरापंथ धर्मसंघ की साधु संस्था में प्रवेश पाया। उस समय कोई नहीं जानता था कि यह बाल-मुनि आगे जाकर पूरे संघ का दायित्व संभालेगा। साधुत्व ग्रहण के बाद किशोर मोहन मुनि मुदित बन गया। मुनि मुदित की आरोहण यात्रा यहीं से शुरू होती है। संयम के प्रति अखंड निष्ठा, अटूट संकल्प, सागर-सी गंभीरता, मेरु-सी धीरता, कार्य की लगन, प्रकृति में सहजता-सरलता, चित्त की एकाग्रता और सघनता, दृष्टि में सकारात्मकता, चर्या में जागरूकता और गुरु व रत्नाधिक के प्रति विनम्रता जैसे अवयव मुनि मुदित के स्वभाव के सहज अंग बनते चले गए। सेवा, समर्पण और सहिष्णुता, सबके प्रति हित-चिंतन व कल्याण की भावना आदि अनेक गुणों ने उनकी प्रगति में जो गति दी, वह सभी के लिए प्रेरणादाई और आदेय है।

बाल-मुनि मुदित का बाह्य व्यक्तित्व तो जन्म से ही सजा-संवरा था। अपने आंतरिक व्यक्तित्व को स्वयं के पुरुषार्थ से निखारने का प्रयास मुनि दीक्षा के साथ ही शुरू हो गया। इसमें गुरु का समुचित योग निरंतर मिलता गया। मुनि मुदित ने दीक्षा के मात्र पंद्रह वर्ष बाद ही तेरापंथ धर्मसंघ के समस्त मुनियों में श्रेष्ठ मुनि का श्रेय प्राप्त कर लिया। आचार्य तुलसी ने उन्हें श्रमणों में 'महाश्रमण' पद पर आरूढ़ कर दिया। यह घटना 6 सितंबर, 1989 की है। लाडनूं में योगक्षेम वर्ष का कार्यक्रम चल रहा था, उसी दौरान यह अलंकरण व कार्यकारी पद उन्हें सुपुर्द किया गया।

महाश्रमण बनने से पूर्व ही मुनि मुदित ने आरोहण की अनेक छोटी-बड़ी यात्राएं कीं। केवल दस वर्ष के मुनि पर्याय में ही आचार्य तुलसी ने उन्हें अपने स्वाध्याय, लेखन, अध्ययन, संशोधन आदि कार्यों में संलग्न कर लिया था। फिर तो आगे से आगे विकास करते रहे। उदयपुर में मर्यादा महोत्सव के अवसर पर 16 फरवरी, 1986 को तत्समय के युवाचार्य महाप्रज्ञ के अंतरंग सहयोगी के रूप में

उनको नियुक्त किया और उसी वर्ष 14 मई को उन्हें 'साजपति' (ग्रुपलीडर) भी बना दिया।

इस प्रकार बाल-मुनि मुदित की मुनिप्रवर महाश्रमण तक की आरोहण यात्रा आचार्य तुलसी द्वारा संपादित हुई। निश्चय ही आचार्यश्री महाप्रज्ञ (उस समय युवाचार्य महाप्रज्ञ) इस कार्य में पूर्ण सहभागी रहे।

गणाधिपति गुरुदेव तुलसी के महाप्रयाण के लगभग पोने तीन माह की अवधि के बाद ही आचार्य महाप्रज्ञजी ने युवाचार्य नियुक्त करने की घोषणा कर दी। युवाचार्य मनोनयन पूर्व लोगों की कल्पना महाश्रमण मुनि मुदित कुमार के प्रति भी रही कि वे भी युवाचार्य हो सकते हैं। लेकिन यह सर्वविदित है कि तेरापंथ धर्मसंघ में इस पद का कोई उम्मीदवार नहीं हो सकता। सभी अपनी-अपनी योग्यता बढ़ाएं—यह काम्य है, पर पद की आकांक्षा कोई नहीं रखता। संघ के हर सदस्य को जन्मघूंटी के रूप में यह शिक्षा दी जाती है। इस संघ की एकता और अखंडता का यही महामंत्र है।

युवाचार्य नियुक्ति के लिए दिन व समय की पूर्व घोषणा कर देना आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अदम्य साहस और प्रबल आचार-निष्ठा का द्योतक है। तेरापंथ इतिहास की तो यह एक विरल घटना है। संघ का युवाचार्य कौन बनेगा, इस बारे में सोचने व चिंतन करने की किसी को आवश्यकता ही नहीं होती। पर, पता नहीं, मनुष्य का यह मन कैसा है कि जिस कार्य के लिए उसे मनाही करो, उसे ही करने के लिए वह अधिक आतुर हो जाता है। युवाचार्य मनोनयन में किसी का कोई हस्तक्षेप चल ही नहीं सकता। आचार्य द्वारा ही इस विषय में निर्णय किया जाता है। वही सहर्ष सर्वमान्य होता है। लेकिन, इस बार मनोनयन की तिथि व समय की घोषणा हो जाने से इस पद के बारे में धारणाएं बनना और चर्चाएं होना स्वभाविक ही था। इतिहास बताता है कि आचार्यों ने अब तक युवाचार्य पद का मनोनयन ही किया है, मनोनयन का समय व दिन नहीं बताया। इसीलिए संपूर्ण जैन-जगत् में आज भी यह विरल व अविस्मरणीय घटना मानी जा रही है।

इस कार्यक्रम के लिए पूर्वघोषित समयानुसार आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने गंगाशहर चातुर्मास-प्रवास के दौरान 14 सितंबर, 1997 को लगभग एक लाख की जन-मेदिनी के मध्य मुनि मुदितकुमार का नाम लिया। भारत-भर से एकत्र जनता ने जय-जय का घोष उच्चरित किया। हर्ष-हर्ष के उन गगनभेदी नारों से धरती और आकाश गुंजायमान हो गए।

आदमी मंदिर की ध्वजा और इमारत की ऊंचाई को ही सामान्यतया देखता है। उसके नीचे की गहराई में कितने अनगढ़ पत्थरों ने अपना समर्पण किया, बलिदान दिया—उसे विरला ही देख पाता है। बालक मोहन से मुनि मुदित, मुदित मुनि से महाश्रमण और फिर युवाचार्य महाश्रमण तक की ऊंचाई को तो हमने जाना-समझा, पर उस ऊंचाई तक पहुंचने में कितना तप और साधना की गई, कितने परीषह आए, कितना श्रम किया, शक्ति का किस तरह नियोजन हुआ—यह कितने लोगों ने जाना-समझा है?

युवाचार्य महाश्रमण की निस्पृहता एक आदर्श है। उन्होंने मनसा, वाचा, कर्मणा—कभी किसी पद, प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं की। वे बहुधा कहा करते हैं, 'हमें तो सेवा करनी है, जब तक हमारा शरीर स्वस्थ है, कार्यकारी है—तब तक हम संघ, समाज व राष्ट्र की सेवा करते रहें, यही हमारा लक्ष्य है। पद, प्रतिष्ठा और अधिकार दूसरे की भलाई के लिए हों, औरों के उत्थान और कल्याण के लिए हों—ऐसी पवित्र भावना जिनमें होती है, पद, प्रतिष्ठा की जिनमें आकांक्षा नहीं होती है—सफलता और श्रेयषता-शीर्षता स्वयं उनके चरण पखारती है।

श्रम और साधना के क्षेत्र में युवाचार्यश्री महाश्रमण आज भी संतोष करके नहीं बैठे हैं। वे कठोर परिश्रम और कठिन तपश्चर्या में रुचि रखते हैं। आत्म-साक्षात्कार की भावना से ओतप्रोत युवाचार्यजी वीतराग भाव से सतत जागरूकता को ही अपनी सफलता का मूल मंत्र मानते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ की अनुशासना और छत्रछाया में वे अत्यंत आनंद का अनुभव करते हैं। चिलचिलाती धूप में झुलसता राही तरु की छाया में आकर जैसे राहत की सांस लेता है, वैसे ही शरणागत भविजन आपका आश्रय पाकर अति आह्लाद और आत्मतोष की अनुभूति करते हैं।

दुनिया में पद-प्रतिष्ठा, नाम-ख्याति, यश-कीर्ति, धन व सत्ता आदि से प्रेरित होकर कार्य करने वाले तो बहुत मिल जाएंगे, परंतु विशुद्ध आध्यात्मिक भावना से चेतना के ऊर्ध्वारोहण की यात्रा करने वाले कितने लोग हैं? युवाचार्यश्री महाश्रमणजी के अरमान हैं—आध्यात्मिक ऊंचाइयों को छू लेना। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में खुद से खुदा बनने की यात्रा चरैवेति-चरैवेति उत्तरोत्तर प्रशस्त हो रही है। चेतना के ऊर्ध्वारोहण की इस महायात्रा में सहयात्री हम भी हैं। अपनी आत्मा की शुद्ध अवस्था परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति की यह यात्रा अपनी मंजिल स्वयं पहचानती है। ❖

कहानी

छुपा सितारा

राजेश ने जेब में से एक चिट्ठी निकाली। उस पर दो शब्द लिखे थे। वे पढ़ कर स्मिथ साहब ने आश्चर्य से आंखें फैलाईं। 'असंभव! यह संभव ही नहीं हो सकता'—वे बुदबुदाए और सोच में पड़ गए...धीरे-धीरे उनके चेहरे पर मुस्कान चमकने लगी। उन्होंने राजेश का हाथ पकड़कर कहा—'होम्स को वॉटसन का सलाम।'

जयंत नारळीकर

बंगलौर महानगर पीछे छोड़कर राजेश की 'व्हैन' कावलूर की ओर दौड़ने लगी, लेकिन वह सोच तो बंगलौर के बारे में ही रहा था। आज शाम मशहूर वैज्ञानिक और खगोल विज्ञान के विशेषज्ञ प्राध्यापक रिचर्ड उसकी संस्था में आने वाले थे। संस्था के आद्य संस्थापक वेणू बापू की स्मृति में हर साल किसी ख्यातनाम खगोलवेत्ता का व्याख्यान आयोजित करने का नियम था और इस साल उसके अनुरोध पर और कोशिश के कारण स्मिथ साहब ने व्याख्यान देना स्वीकार किया था। विषय भी उसकी रुचि के अनुसार था : 'आकाशगंगा में सितारों की भ्रमणकक्षा'—इस विषय पर उसने स्वयं अनुसंधान किया था और वक्ता के साथ वह स्वयं भी चर्चा करना चाहता था।

लेकिन आज यह संयोग असंभव था...

प्रातःकाल का घटनाचक्र राजेश की आंखों के सामने घूम रहा था...सवेरे साढ़े सात बजे संस्था के संचालक का फोन कॉल...कावलूर की बड़ी दूरबीन में बिगाड़ होने की खबर...ऑप्टिक्स और इलेक्ट्रॉनिक्स इन दोनों के शासनतंत्र का सामंजस्य खतम हो गया था।

उससे पूछा गया था कि उसे ठीक करने के लिए क्या वह तंत्रज्ञ के साथ जा सकेगा। राजेश अपने अनुभव से जानता था कि पूछने का मतलब था आज्ञा। कावलूर की नब्बे इंचों की दूरबीन मात्र दूरबीन नहीं थी, वह तो अत्याधुनिक इलेक्ट्रॉनिक साधन का केंद्र स्थान थी। इन साधनों पर ही उसकी कार्यक्षमता निर्भर थी, और उसकी जानकारी राजेश के अलावा और किसी को नहीं थी।

'आज के बजाए अगर कल गया तो? मुझे रिचर्ड स्मिथ का भाषण सुनना था और उनसे चर्चा भी करनी थी।' कहते हुए उसने थाह लेने की कोशिश की। लेकिन संचालक की अपनी मजबूरी थी। 'कल स्वयं प्रो. स्मिथ दूरबीन देखने के लिए आने वाले हैं। इसलिए कल वह ठीक स्थिति में होनी ही चाहिए। कल जब वे दूरबीन देखने आएंगे, तब तुम उनके साथ चर्चा भी कर सकते हो।' संचालक ने ताकीद दी थी।

उसी में संतोष मानकर राजेश ने कावलूर जाने की तैयारी करली। अपने सामान में उसने खुद के कुछ शोध प्रबंध भी लिए थे...

'क्यों राजेश भैय्या, क्या सोच रहे हो? देख रहा हूं, आधे घंटे से तुम बिल्कुल बुत की तरह चुपचाप बैठे हो।' इलेक्ट्रॉनिक तंत्रज्ञ ब्रजेश ने राजेश को छेड़ा।

राजेश संभल गया। उसने पूछा—'तुम्हारी क्या राय है, बिगाड़ के बारे में? रात खतम होने तक क्या दुरुस्ती हो सकती है? फिर मैं ग्रहों के पर्यवेक्षण की जांच-पड़ताल कर सकूंगा?'

'वह हवलदार डरपोक है। थोड़ा-सा बिगाड़ आ गया कि बंगलौर को फोन करता है। मेरा अंदाज है कि बिगाड़ कुछ मामूली ही होगा, लेकिन स्वयं जिम्मेदारी ले कर कुछ करने में उसे घबराहट होती है।' ब्रजेश ने कहा!

राजेश हंस दिया। 'दोष तुम्हारा ही है ब्रजेश भाई! तुम हमेशा उसे चम्मच से ही खिलाते रहोगे तो वह खुद क्यों कोशिश करने लगा?'

'सही है! आज सब-कुछ उसी से करवाता हूं—मैं सिर्फ निगरानी रखूंगा।'

'बिग ब्रदर इज वॉचिंग यू', राजेश बुदबुदाया।

कावलूर का चढ़ाव शुरू होने तक 'व्हैन' में शांति थी। हर कोई अपनी-अपनी सोच में डूबा हुआ था।

'सौभाग्य से आज आसमान निरभ्र है।' ब्रजेश ने कहा।

'हां! इतनी दूर आए हैं तो कुछ ग्रहों के पर्यवेक्षण की जांच-पड़ताल कर सकूंगा।' राजेश ने कहा।

'तुम तो तय करके ही आए होगे कि किस प्रकार का पर्यवेक्षण करोगे। क्या मजा लेने के लिए मैं तुम्हारे साथ रुक सकता हूं?' ब्रजेश ने पूछा।

'जरूर! अगर बीच में कुछ बिगाड़ हुआ तो तुम काम भी आवोगे ही। अलबत्ता तुम और तुम्हारे सहयोगियों ने समय पर मरम्मत का काम किया होगा तो ही संभव होगा।'

'उसकी चिंता मत करो। इस दूरबीन की बनावट ही ऐसी है कि मरम्मत में तकलीफ नहीं होगी।' ब्रजेश ने आत्मविश्वास के साथ कहा।

इतने में जोरदार धक्का लगा और 'व्हैन' रुक गई, ड्राइवर ने ब्रेक पेडल दबाकर रखे थे।

'क्या हो गया'—यह देखने के लिए दोनों खिड़की से झांकने लगे। एक बड़ा-सा सांप रास्ते में रेंगता हुआ निकल गया।

'चंदन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।' ब्रजेश बुदबुदाया।

'चंदन के वृक्ष होंगे तो सांप आएंगे ही! यही कारण है कि रात को यहां घूमने में मुझे डर लगता है।'

'ब्रजेश...अन्यथा यह चंदनवन का परिसर बड़ा ही रम्य है।' राजेश ने कहा।

सघन चंदनवृक्षों के बीच में से दूरबीन के गुंबद झांक रहे थे। अस्ताचल की ओर चले सूरज की रोशनी में पहाड़ की तलहटी का परिसर चित्रवत् अद्‌भुत रमणीय लग रहा था। कावलूर आते समय यहां की प्राकृतिक सुंदरता ने राजेश को हमेशा मोहित किया है।

'पहले कहां चलेंगे?' ड्राइवर ने पूछा।

'मुझे और मेरे साथियों को पहले बड़ी दूरबीन के पास उतार दो। फिर राजेश साहब को गेस्ट हाउस पर लेकर जाना।'

'ब्रजेश, पहले तुम भी गेस्ट हाऊस चलो! हम बढ़िया-सी चाय पीएंगे और फिर तुम अपना काम करो।' राजेश ने कहा।

ब्रजेश ने गर्दन हिलाकर इंकार किया—'नहीं। पहले दूरबीन की मरम्मत। बाद में और बातें...हो सका तो मैं रात नौ बजे तक मरम्मत का काम पूरा करके ही खाना खाने आ जाऊंगा।'

राजेश को ब्रजेश से यही आशा थी। दूरबीन के इलेक्ट्रॉनिक्स की पूरी जिम्मेदारी उस पर ही थी। उसमें किसी भी प्रकार की लापरवाही उससे सही नहीं जाती थी। हणमंत हवलदार भी यही चाहता था। वह दूरबीन के प्रवेशद्वार के पास चक्कर काट रहा था। ब्रजेश और उसके साथियों को वहीं छोड़कर राजेश गेस्ट हाऊस की ओर गया।

चाय की चुस्कियां लेते-लेते उसने अपने अनुसंधान की फाइल निकाली। आज संभव हो सका तो किस प्रकार का पर्यवेक्षण किया जाए, इस संबंध में उसे निर्णय लेना था।

जांच के लिए उपयुक्त हो, इसलिए उसने कुछ तारकक्षेत्र चुने। पहले ग्रहों का जो पर्यवेक्षण उसने किया था, उससे तुलना करके आज के पर्यवेक्षण की परिपूर्णता का अंदाज लगाना उसका उद्देश्य था। दोनों पर्यवेक्षण पूरी तरह मिल जाएं तो समझा जा सकेगा कि दूरबीन की मरम्मत ठीक हो गई है, यह विश्वास दिलाया जा सकता था।

'क्यों जी, नया प्रकल्प लाए हो क्या?' चालीस इंच की दूरबीन पर काम करने वाले उसके सहयोगी रामराव ने पूछा।

'नया नहीं! केवल जांच के लिए—नब्बे इंच वाली दूरबीन में कोई दोष पैदा हो गया है—वह निकालना है...जांच करने के लिए बनाए गए प्रकल्प से नया क्या मिलेगा?' अंगड़ाई लेते हुए राजेश ने कहा।

लेकिन उसका यह अनुमान गलत साबित होने वाला था।

अपने अंदाजे के अनुसार ब्रजेश और उसकी टीम ने नब्बे इंचवाली दूरबीन का बिगाड़ दुरुस्त किया, तब तक नौ बज चुके थे।

'अॅस्ट्रानॉमर साहब, अब तुम्हारी बारी'—गेस्ट हाऊस के डायनिंग हॉल में प्रवेश करते हुए ब्रजेश ने कहा।

'बिगाड़ बड़ा था क्या?' राजेश ने पूछा।

'बड़ा तो नहीं था, लेकिन नई जगह पर था। असल में

मेरा काम आधा घंटा पहले ही खतम हो जाता, लेकिन इस बार मैंने हणमंत्या से ही सब-कुछ करवाया...दोष किस जगह पर है, इसका अनुमान लगाने से लेकर मरम्मत तक। अब लगता है कि उसमें थोड़ा तो आत्मविश्वास आया ही होगा।'

'शाबाश! चलो, अब खाना खा कर जांच करेंगे'। राजेश ने घंटी बजाकर खाना परोसने की सूचना दी। खाना खा कर, जरूरी कागजात ले नब्बे इंच वाली दूरबीन तक पहुंचने में साढ़े दस बज चुके थे। आसमान मेघ-रहित था। अमावस्या अभी-अभी खतम हुई थी। इसलिए आसमान में चांद की रोशनी करीब-करीब नहीं थी। सितारों के गहरे पर्यवेक्षण के लिए आदर्श मौका था।

राजेश को जिन दिशाओं की जानकारी चाहिए थी, वह उसने कंप्यूटर में भर दी। उस सूचना के अनुसार दूरबीन ने अपनी नली आसमान की तरफ तान दी। पहले खगोल वैज्ञानिक नली में से देखकर तारों का पर्यवेक्षण करते थे। बाद में मनुष्य की आंखों के बजाए फोटोग्राफिक प्लेट प्रयोग में लाई गई। जैसे-जैसे तंत्रज्ञान प्रकट होता गया, वैसे-वैसे प्लेट भी पीछे रह गई। इमेज टयूब, फोटो मल्टिप्लायर और अब सी. सी. डी. और उसके साथ जुड़े कंप्यूटर। आज के खगोल वैज्ञानिक दूरबीन की नली में से न देखकर टी. वी. के परदे पर सितारों के दर्शन करते हैं। हाथ से टिप्पणी दर्ज न करके कंप्यूटर द्वारा प्रकाशित अंकों का निरीक्षण करते हैं और फोटो में भी न आ सकने वाली आसमानी चीजों के नक्शे आधुनिक प्रतिच्छाया तैयार करने वाले नए तरीके से चाहे जो रंग देकर बनाते हैं। खगोल विज्ञान के लिए पहली बार दूरबीन का प्रयोग करने वाला गैलिलियो यदि अभी मौजूद होता तो ये सब साधन देखकर पहले चकित हो गया होता और फिर खुशी से झूम उठा होता।

'सी. सी. कैमरा ठीक से लगाया?' टी. वी. के सामने बैठते हुए राजेश ने पूछा।

'हां! वह ठीक काम कर रहा है...तुम अपनी सूचनाएं कंप्यूटर को दे दो।'

राजेश ने कंप्यूटर की सांकेतिक भाषा में अपेक्षित सूचनाएं दे दी। उनको स्वीकार किया गया और जल्दी ही सितारों के पर्यवेक्षण का काम अच्छी तरह शुरू हो गया है—यह यकीन कंप्यूटर ने दिया।

'तुमने कौनसा प्रकल्प चुना है?' ब्रजेश को खगोल विज्ञान की मोटे तौर पर जानकारी थी।

'मैं हमारे नजदीक के कुछ तारों का समूह देख रहा हूं। उसके चार्ट मेरे पास हैं, पुराने पॅलोभार वेधशाला द्वारा बनाई प्लेट्स के साथ उनसे तुलना करके देखना चाहता हूं।'

'सितारे कुछ दशकों में अपना स्थान बदलते हैं ना?' ब्रजेश ने पूछा।

'हां, वे आकाशगंगा में भ्रमण करते हैं, तब उनकी दिशा बदलती है। परंतु सादी दूरबीन से वह बदलती हुई नजर नहीं आती। केवल सूक्ष्म नाप तौल करने वाली दूरबीन से यह अंतर बहुत सालों के बाद लिए सितारों के पर्यवेक्षण की तुलना करके जाना जा सकता है...इसके अलावा तारकयुगलों की गति हम दूसरे तरीके से जान सकते हैं। 'तारकयुगल के दोनों सितारे एक-दूसरे की परिक्रमा करते होंगे तब उनकी दशा में भी फर्क होता होगा न?'

'होता है, लेकिन उनके बीच का अंतर अगर कम हो तो उसे प्रत्यक्ष देखना मुश्किल है। केवल 'डॉप्लर' 'इफेक्ट' से उनकी गति यहां बैठे-बैठे भी नापी जा सकती है?' राजेश ने स्पष्ट किया।

ब्रजेश को 'डॉप्लर' 'इफेक्ट' की जानकारी थी।

यदि हम स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर खड़े हैं और सीटी बजाती हुई एकाध रेलगाड़ी तेजी से सामने से निकल गई तो महसूस होता है कि रेलगाड़ी की सीटी का स्वरमान एकदम घट गया है। जब रेलगाड़ी हमारी दिशा में आ रही होती है तब वह बढ़ा हुआ होता है और सीटी अधिक कर्कश लगती है। रेलगाड़ी सामने से गुजरती हुई दूर चली जाती है तब कर्कशता कम हो जाती है। लहर की यह विशेषता ध्वनि पर जैसे लागू होती है, वैसे प्रकाश पर भी। तारकयुगल के हमसे दूर जाने वाले सितारों के प्रकाश की लहरों की लंबाई बढ़ती है और पास आने वाले सितारों के प्रकाश की लहरों की लंबाई कम हो जाती है।

'कंप्यूटर' में तारों का नक्शा भर दिया गया था। आसमान के किसी भी हिस्से में निश्चित तेज मर्यादा से अधिक तेजस्वी सितारों की जानकारी, जो पहले किए गए पर्यवेक्षण से बनाई गई थी—कंप्यूटर की स्मृति में थी। उस जानकारी के मुताबिक अभी राजेश ने जिन सितारों का पर्यवेक्षण किया था, वे सितारे हैं या नहीं, इसकी ब्यौरेवार जांच 'कंप्यूटर' कर रहे थे।

'हर्शेन्न पिता-पुत्र ने तारों के पर्यवेक्षणों की प्रणालीबद्ध टिप्पणियां की थी।' राजेश ने कहा, 'लेकिन आज के खगोल वैज्ञानिक के पास जो साधन उपलब्ध हैं, वैसे किसी भी प्रकार

के साधन उनके पास नहीं थे...यह तो कोलंबस ने जिस स्थिति में अटलांटिक महासागर पार किया, उसकी तुलना आज के आरामदेह यात्री जहाज के साथ करने जैसा है।'

'क्या मैं एक बात कह सकता हूं? नाराज नहीं होना।' ब्रजेश ने पूछा।

'कहो! तुम्हें अभयदान है,'—राजेश ने हंसकर कहा।

'केवल खगोल विज्ञान की ही बात नहीं, कौन-सा भी विभाग देखो—ऐसा लगना स्वाभाविक ही है कि शतक-दो शतक पहले विपरीत स्थिति में अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिकों की तुलना में आज के वैज्ञानिकों की स्थिति में काफी सुधार है। ढेर-सारा धन, अद्ययावत तंत्रज्ञान, प्रशस्त अनुसंधान संस्थाएं—यह सब देख कर भी मुझे लगता है कि पहले जैसी जिद अब नहीं रही। आज का वैज्ञानिक लड़बावला बन गया है।'

'तुम जो कह रहे हो, वह निन्यानबे प्रतिशत वैज्ञानिकों के बारे में कहा जा सकता है। लेकिन एक प्रतिशत वैज्ञानिक अभी भी ऐसे हैं जिन्होंने अन्य व्यवसायों का मोह टाल कर विज्ञान क्षेत्र को बड़ी जिद्द से अपनाया है। ऐसे ही लोगों के बल पर यह चक्र आगे बढ़ रहा है। बाकी सब हैं बेकार लोग...'

'राजेश वह देखो'...ब्रजेश यकायक बोल पड़ा। कंप्यूटर के टी. वी. के परदे पर एक लाल दीया टिमटिमा रहा था, ध्यान आकर्षित करने के लिए दीए के नीचे एक वाक्य था : तारा क्रमांक 1241+7914 मिलता नहीं है। बाकी सब सितारे पहले की तरह हैं।

'मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा है। तारा कैसे ओझल हो सकता है?' रिचर्ड स्मिथ ने अचरज से कहा। उनके कावलूर आते ही राजेश ने उन्हें कल रात का वृत्तांत बताया। उनसे जिन मुद्दों पर चर्चा करनी थी, वह रही एक तरफ...राजेश गत रात सिर्फ अदृश्य हुए सितारों के बारे में ही सोच रहा था।

'प्रोफेसर स्मिथ...'

'रिचर्ड!' प्रोफेसर साहब को आदारार्थी संबोधन पसंद नहीं था।

'रिचर्ड, तुम आज रात को देख ही लेना...लेकिन कल का कंप्यूटर रेकॉर्ड तुम्हें अभी दिखाता हूं।'

टी. वी. स्क्रीन पर राजेश ने कल रात की राम-कहानी फिर से गढ़ी।

रिचर्ड स्मिथ सब देख कर स्तंभित हो गए। उन्होंने राजेश की तरफ देखा। राजेश बड़े कष्ट से अपनी हंसी रोक रहा था।

'अबे, बे! लगता है कि तुमने समस्या सुलझाई है।' प्रोफेसर साहब ने कहा।

'रिचर्ड, मैंने पूरी रात सोचके इसकी कारण-मीमांसा जान ली है। लेकिन मैं देखना चाहता हूं कि तुम किस निष्कर्ष पर पहुंचने वाले हो।' हंसते हुए राजेश ने कहा। 'तुम्हें तीन विकल्प दे रहा हूं।'

रिचर्ड स्मिथ सोच में पड़ गए। आसमान का सितारा यकायक कैसे गायब हो जाएगा?

'सुपर नोव्हा?' बुदबुदाते हुए उन्होंने खुद ही नकारात्मक गर्दन हिलाई।

'पहला विकल्प खतम। यदि इस सितारे में विस्फोट होकर उसका सुपर नोव्हा अवशेषों में रूपांतर हो जाता तो वह घटना विश्व-भर की विविध वेधशालाओं की निगाहों में से छूट जाना असंभव था...विस्फोट होने के पहले इस सितारे का तेज बहुत बढ़ गया होता।...इसके अलावा वह तारा लाल राक्षसी नहीं था, ऐसे ही राक्षसी सितारे विस्फोट होकर बिखरते हैं?'

'बहुत हुआ राजेश! जले पर नमक मत छिड़कना... दूसरी संभावना है, उस सितारे की न्यूट्रॉन सितारे में या कृष्णविवर में रूपांतर होने की...लेकिन मुझे भी यह संभवनीय नहीं लगता। क्योंकि यह सितारा तो हमारे सूर्य की तरह ही था। उसका यकायक संकोच होने की संभावना नहीं है।'

प्रश्नार्थक मुद्रा बनाकर रिचर्ड स्मिथ ने राजेश की ओर देखा।

'तीसरा विकल्प?' राजेश ने धीरे-से पूछा।

स्मिथ साहब पांच मिनट तक ठुड्डी खुलजाते हुए सोच रहे थे। अंत में गर्दन हिलाकर बोले—

'मैंने पराजय स्वीकारी है! बोलो तुम्हारा जवाब।'

'ग्रहण'—एक शब्द में राजेश ने जवाब दिया।

'ग्रहण? किसका? इतनी दूरी से तारे का ग्रहण दिखाई देता हो तो, उसे ढकने वाली चीज भी उतनी ही बड़ी होनी चाहिए...तुम यह तो नहीं कहना चाहते हो कि इस तारे जैसा बड़ा...आकार में बड़ा ग्रह उसकी परिक्रमा कर रहा है। इतने बड़े ग्रह का तो अस्तित्व ही संभव नहीं, यह तो तुम भी जानते हो।' प्रो. रिचर्ड ने अविश्वास से कहा।

'ग्रह का होना संभव नहीं, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन रिचर्ड, तुम्हारे ही देश के मशहूर डिटेक्टिव्ह शेरलॉक होम्स ने क्या कहा था? जब सारे संभवनीय विकल्प लागू नहीं होते तब बचा हुआ विकल्प कितना ही असंभवनीय हो ग्राह्य मान लेना चाहिए।' राजेश ने कहा।

'लेकिन मिस्टर राजेश होम्स आपने भी ग्रह द्वारा तारा ढंकने की संभावना अस्वीकार की है! फिर अब कौन-सा विकल्प बाकी है?'

राजेश ने जेब में से एक चिट्ठी निकाली। उस पर दो शब्द लिखे थे। वे पढ़ कर स्मिथ साहब ने आश्चर्य से आंखें फैलाईं। 'असंभव! यह संभव ही नहीं हो सकता'—वे बुदबुदाए और सोच में पड़ गए...धीरे-धीरे उनके चेहरे पर मुस्कान चमकने लगी। उन्होंने राजेश का हाथ पकड़कर कहा—'होम्स को वॉटसन का सलाम।'

केवल अत्यंत महत्त्वपूर्ण सभाओं के लिए आरक्षित वह कमरा ठसाठस भर गया था। सब के सब चौसठ सभासद उपस्थित थे। शासक, अध्यापक, वैज्ञानिक, यंत्रज्ञ, अर्थशास्त्री, लेखक...ऐसे विविध क्षेत्र के लोगों को इस सभा में बुलाया गया था। वैसे हमेशा सब उपस्थित नहीं रहते थे, लेकिन आज की सभा का प्रारूप ही इतना विलक्षण था कि जरूरी काम भी छोड़कर हरेक सभासद उपस्थित था। शांति प्रस्थापित होते ही अध्यक्ष बोलने के लिए खड़े हो गए।

'दोस्तो! हमारे आह्वान को अब प्रतिसाद मिल रहा है। वह अत्यंत मंद है, लेकिन हमारी यंत्रणा वह वहन कर सकी और उसे समझ सकी...इससे मिली जानकारी अब आपके सामने पर्दे पर दिखाई देगी।' अध्यक्ष नीचे बैठ गए। सबकी आंखें सामने वाले प्रशस्त परदे की ओर जा टिकीं। वहां जानकारी और तस्वीरें दिखाई देने लगीं। संदेश का स्थान : 'तारा नंबर 15712722 की परिक्रमा करने वाला तीसरा ग्रह, कुल ग्यारह ग्रह इस ग्रहमाला में हैं।

'ग्रह का अंतर : उस ग्रह को हमारे सितारे की एक परिक्रमा पूरी करने के लिए जो समय लगता है उसे वर्ष कहते हैं।

'हमारा तारा क्रमांक-1 और पड़ोस का तारा 2 को एक-दूसरे की परिक्रमा करने में लगभग 1022 साल लगते हैं। ग्रह का हम तक का अंतर पूरा करने के लिए 17 साल लगे। यानी हमारे संदेश पहुंचकर उत्तर मिलने में उनके काल खंड के 36 साल बीत जाते हैं।' (उनके अंक दशमिक पद्धति में होते हैं, उनको परिवर्तित करके हमारी अष्टांक पद्धति में दिए हैं)।

ग्रह की जानकारी देने वाली कई तस्वीरें परदे पर अंकित हुई। पहाड़, नदियां, शहर, मनुष्य, जानवर आदि की तस्वीरें धुंधली-सी अंकित हुई। उसके बाद टिप्पणी अंकित हुई।

'यह सभ्यता तंत्रज्ञान में जल्द-गति से विकास कर रही है। लेकिन हमारे स्तर तक आने में उन्हें बहुत समय लगेगा। जिस तरीके से हम अपने तारे की ऊर्जा का प्रयोग करते हैं, उतनी कार्यक्षम पद्धति से ऊर्जा का प्रयोग करने की योग्यता उनमें नहीं है। हमारी खोज जिस कल्पकता से उन्होंने की, वह सराहनीय है...यह खोज उन्हें हमारे संदेशों से नहीं लगी। उल्टा खोज लगने के बाद उन्होंने अपनी महाकाय रेडियो दूरबीन हमारी दिशा में मोड़ दी और फिर वे हमारे संदेश वहन कर सकीं।'

अलबत्ता सभासदों के सामने सवाल था कि हमारे संदेशों के बगैर उन ग्रहवासियों ने हमारी खोज कैसे की? इस प्रश्न की संभावना जानते हुए आगे की जानकारी परदे पर आ गई।

'हमारी खोज उन्होंने कैसे की, इस संदर्भ में उन्होंने अपने संदेशों में कहा है। वह जानकारी इस प्रकार है...उसमें संयोग है, उसी तरह—संदेश भेजने की कल्पकता भी है।

'उस ग्रह पर एक मशहूर वैज्ञानिक फ्रीमन डायसन पैदा हुआ था। उसने एक कल्पना पेश की थी। अगर किसी ग्रह पर की जीव सृष्टि अत्यंत प्रकट अवस्था में पहुंची तो उसके लिए आवश्यक ऊर्जा की भूख कृत्रिम गोलाकार बस्ती बांधकर मिटाई जा सकती है। 'डायसन का गोला' यानी तारे को केंद्र स्थान में रखकर उसे चारों ओर से घेरने वाला गोला। तारा और ग्रह में जितना अंतर होगा, उतनी त्रिज्या लेकर यह गोला दूसरे किसी ग्रह की सामग्री का उपयोग करके बनाना होता है। अलबत्ता किसी गेंद की तरह यह गोला अंदर से खोखला होगा और उसके पृष्ठ भाग की मोटाई कम होगी। तारे से निकलने वाला प्रकाश इस गोले के बाहर नहीं जा सकता। उसकी ऊर्जा का संपूर्ण प्रयोग अंदर रहने वाली जीव सृष्टि कर सकेगी। आप के ध्यान में आएगा कि हमारी बस्ती भी उनके नजरियों से डायसन के गोले में है। यह बस्ती अपने तारे की—क्रमांक 1 की ऊर्जा का कुशल पद्धति से प्रयोग करती है। अलबत्ता हमारी बस्ती तैयार होकर बहुत साल बीत चुके हैं। इस तरह का गोला बनाने की पात्रता प्राप्त करने में हमारी संस्कृति को जो

समय लगता है, वह ध्यान में रखते हुए लगता है कि डायसन के समकालीन लोग उसकी कल्पना को प्रात्यक्षिक रूप नहीं दे सकेंगे, आगे भी—उनके सहस्र वर्षों में भी—संभव नहीं होगा...परंतु डायसन के गोले विश्व में अन्यत्र हो सकते हैं, यह कल्पना उन्हें असंभव नहीं लगी। इसलिए वे हमारी खोज कर सके।

'हमारे गोले ने जिस तारे को घेरा है, वह तारा नंबर 7 और तारा नंबर 2, ये एक-दूसरे की परिक्रमा करते हैं—यह तो आप जानते हैं, परंतु दूर से देखने वालों को तारा नंबर 9 दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह हमारे गोले में बंद है। लेकिन किसी विशिष्ट स्तर में से देखने वालों को तारा नंबर 2 को हमारे गोले का ग्रहण लगा हुआ दिखाई देगा...मतलब देखने वाले और तारा नंबर 2 के बीच हमारा गोला आ गया तो ही यह संभव होगा।

'जिन ग्रहवासियों ने हमारी खोज की, उनकी कालगणना के अनुसार 1022 बरसों में हमारे तारकयुगलों की एक-दूसरे की परिक्रमा पूर्ण हो जाती है अर्थात् तारा नंबर 2 को हर 1022 बरसों में एक बार ग्रहण लगने के कारण वह कुछ समय उन्हें दिखाई नहीं देगा। बिल्कुल ऐसी स्थिति इधर पैदा हुई और तारा नं. 2 यकायक अदृश्य हो गया। यह स्थिति उस ग्रह के एक चतुर निरीक्षक को दिखाई पड़ी। उस ग्रह पर रहने वाले जीवों की आयुमर्यादा 100 से 120 बरसों की है, इसलिए 1022 वर्षों में एक बार घटित होने वाली घटना उनकी दृष्टि से 'संयोग' ही कहा जाएगा।

'राजेश गुप्ता यह रहा उस निरीक्षक का नाम। तारा अदृश्य कैसे हुआ इसकी वजह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह डायसन के गोले की ओर मुड़ गया। यही विकल्प उसे उपलब्ध विकल्पों में सही लगा।

'वह और उसका एक सहयोगी रिचर्ड स्मिथ ये दोनों इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि, यदि यह डायसन का गोला उन्हें दिखाई नहीं पड़ा तो भी उसमें से निकलने वाली किरणें उनके 'इंफ्रारेड' दूरबीन को मिल सकेंगी। तारे की ऊर्जा (प्रकाश) का उपयोग हम करते हैं और उसका उष्णता में रूपांतर करते हैं, फिर आगे वह इस तरह की किरणों से बाहर आ जाती है (अर्थात् हम उन किरणों को अलग नाम देते हैं।) राजेश और रिचर्ड दोनों ने एक (इंफ्रारेड) दूरबीन से हमारी दिशा में तारों का पर्यवेक्षण किया और उन्हें हमारे गोले की उपस्थिति का सही-सही पता चला।

परदे पर की जानकारी खतम हो गई। अध्यक्ष ने कहा, 'इस मामले में आगे हम क्या करने वाले हैं, यह अभी निश्चित कर लेते हैं। पहले हमारी खोज करने वालों की कल्पकता का गौरव करने वाला और राजेश तथा रिचर्ड को बधाई देने वाला संदेश भेज देते हैं?'

अपनी अनुमति जताते हुए सभासदों ने सिर के ऊपर के अंटेना तान दिए।

सत्तर के आस-पास पहुंचा हुआ राजेश अपने घर की पिछवाड़ी में बगीचे में काम कर रहा था। पांच साल पहले ही वैज्ञानिक अन्वेषणों में शरीक होना उसने छोड़ दिया था। लेकिन वह अपने विषय के बारे में बहुत पढ़ता था। पढ़ना और बगीचे में काम करना—ये दो उसके शौक थे।

उसकी कलाई के घड़ीनुमा उपकरण से धीमी सीटियां बजने लगी। अपने-आप से ही पिनपिना कर उसने एक बटन दबाया और कहा, 'राजेश।'

'हॅलो राजेश, मैं रिचर्ड बोल रहा हूं स्कॉटलैंड से। कहो कैसी है ऊटी?'

'आबोहवा बढ़िया है। लेकिन तुम उसकी पूछताछ के लिए तो बात नहीं कर रहे हो'—राजेश अपने-आप मुस्कराता हुआ बोला।

'राजेश! बड़ी महत्त्वपूर्ण खबर है, अरिसीबी की दूरबीन के पास हमारे तारे से प्रतिसंदेश आए हैं।'

राजेश को लगा कि पूरे बदन में बिजली-सी चमक गई है...तीस साल के बाद राजेश को जवाब मिल रहा था। क्या था—उसमें? उधर से रिचर्ड स्मिथ बोल रहे थे।

'अभी-अभी मेरे लिए एक कॉल आया अरिसीबी से। वे तुम्हें भी जानकारी भेज रहे हैं। अब तक तुम्हारे टी. वी. सेट तक वह पहुंच गई होगी। उन लोगों की खोज हमने की, इसलिए उन्होंने हमें बधाई दी है...और हां, तुमने जो विज्ञान के और गणित के कुछ कूट प्रश्न पूछे थे, उनके जवाब भी उन्होंने भेजे हैं। अपने टी. वी. पर ही देखो। मैं तुम्हारा ज्यादा समय लेना नहीं चाहता, तुम्हें भी जिज्ञासा होगी ही—बाय!'

स्मिथ का फोन बंद होने तक राजेश ने अपना टी. वी. शुरू कर दिया था। उसके सांकेतिक नंबर पर उसकी 'इलेक्ट्रॉनिक मेल' में वह जानकारी आएगी।

राजेश को अभी भी वे बीस कूट प्रश्न याद थे। गत तीस बरसों में उनमें से केवल पांच प्रश्नों के उत्तर मिले थे

शेष पृष्ठ 52 पर

रमेशचंद्र शाह की कविता

•

सब अनर्थ है
कहा अर्थ ने
मुझे साध कर

तू अनाथ है
कहा नाथ ने
मुझे नाथ कर

इसी तरह
शह देते आए
मुझे मातबर

पहुंचाना घर
मगर उन्हें भी
मुझे लाद कर

पनपे खर—
पतवार सभी तो
मुझे खाद कर

•

डर ने बहुत पढ़ा था;
डर ने बहुत गुना था,
डर-डर के हमने घर का
किस्सा बहुत बुना था।

डर ने सुलाया डर को;
डर ने जगाया डर को;
गाया भी क्या, भुलाया
डर के इसी असर को।

डरके भी क्या करोगे?
मरके भी क्या करोगे?
डर-डरके डर से भैया
तरके भी क्या करोगे?

आओ रहो यहां पर;
ऊबो नहीं यहां पर;
कुछ बात है, निकालो
डूबो नहीं यहां पर।

•

तुम्हारी गहराई
एक तुम्हें छोड़
और सबके लिए
रहस्य है।

तट पर खड़ा मैं तुम्हें
निहार-भर सकता हूं।
अधिक से अधिक
तुम्हारी
परिक्रमा कर सकता हूं।

बिन डूबे तुममें
प्रतिबिंबित हैं
ये उजले शिखर
और
अंतरिक्ष...

तुम्हारा काम केवल
यहां बैठे-बैठे
ऊंचाइयों को
गलाना है।

•

अनगिनत बिवाइयों में
फूट पड़ा सहसा
वह
मौन!!!
भभक रहीं बिजलियां
अभी तक
जिन्होंने
मुझे
बिछा दिया था दस
दिशाओं में खींच कर
धरती से एकसार...।

हर आदमी कील-सा
ठुंका हुआ था मेरे
आर-पार।
झांकती थी मुझमें
हर दूब
हर
दरार...।

❖❖

शीलन

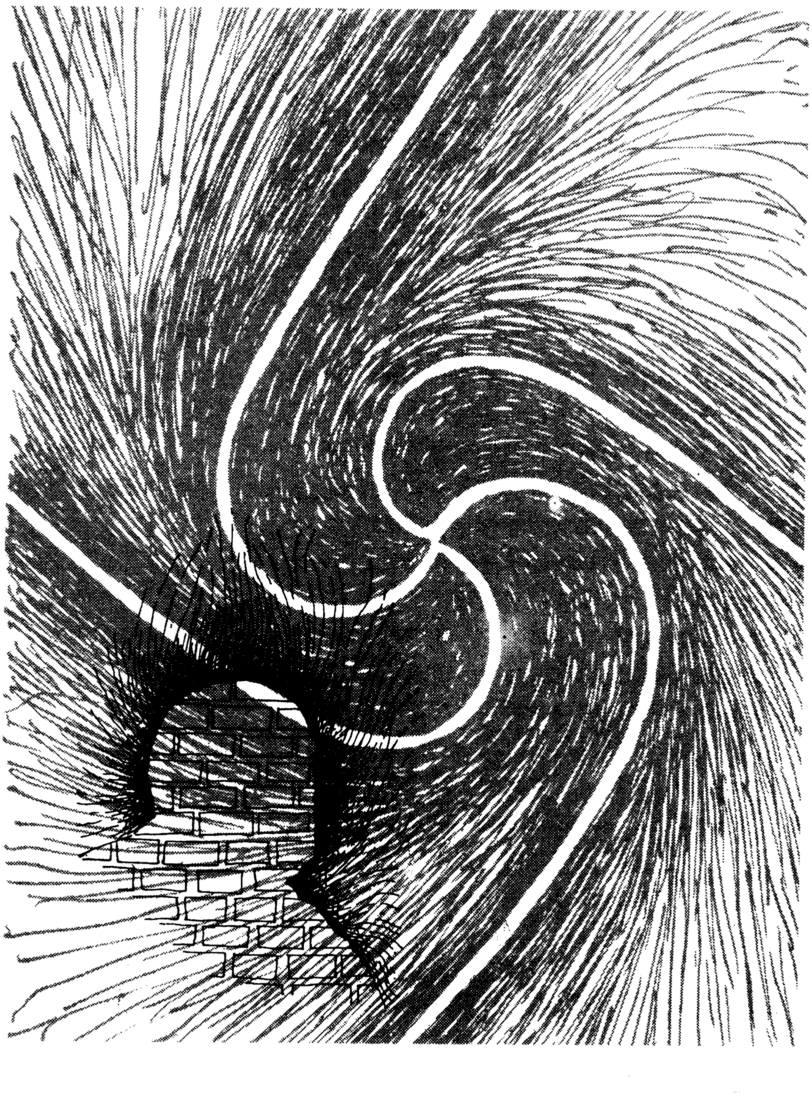

व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि के संबंध में बहुत से तर्क दिए जाते हैं। व्यक्तित्व की स्वतंत्रता की रक्षा नए युग का आवश्यक लक्ष्य है। समाज में फैली हुई अनीतियों के विरुद्ध व्यक्तिगत विद्रोह का अर्थ हम समझ सकते हैं। विस्तारित अंधकार के बीच अकेली दीप-शिखा का मूल्य हम जानते हैं, पर जब व्यक्तिवादी प्रवृत्ति अपना लक्ष्य स्वयं ही बन जाती है और जब यह राष्ट्रीय और मानवीय उत्थान के साधनों को दुर्लक्ष्य करने लगती है, तब वह व्यक्तिवादिता साहित्य और समाज के लिए शंकास्पद हो उठती है। विचारों की विविधता और शैलियों की अनेकता साहित्य का शृंगार होती है, पर तब, जब उस विविधता और अनेकता में कोई समन्वित चेतना और जीवन-दृष्टि हो।

—**नंददुलारे वाजपेयी**

संयम, समर्पण, अनुशासन की त्रयी

जयाचार्य की विनम्रता ने आचार्य पद को प्रभावी बनाया, किंतु पद ने उनकी विनम्रशीलता को प्रभावित नहीं किया। वे आचार्य बनने के बाद भी उतने ही विनयशील, कृतज्ञ और श्रद्धानत थे—जितने पहले थे। उनकी तर्कशक्ति, बौद्धिक विलक्षणता, तत्त्व की गहराई में पैठने वाली श्रद्धा को देख किसी श्रद्धालु ने कहा—'आचार्यवर! आप आचार्य भिक्षु से भी आगे हैं।' जयाचार्य हंसे, सुनकर फूले नहीं। अपनी विनम्रशीलता को संजोकर बोले—'तुम सचाई को नहीं जानते। सौ जीतमल इकट्ठे हो जाएं तो भी आचार्य भिक्षु के बाएं पैर की उंगली के नख की बराबरी नहीं कर सकते।'

मुनि दुलहराज

हर व्यक्ति अपने-आप में अपूर्व क्षमता के बीज लिए हुए पैदा होता है, पर कुछेक में ही वे बीज अंकुरित हो पाते हैं। कुछ में वे अंकुरित नहीं भी हो पाते। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को महानता से जोड़ लेते हैं, द्वैत में अद्वैत स्थापित कर लेते हैं, उनके क्षमता-बीज अंकुरित हो जाते हैं। मुनि जीतमल तीन महान् व्यक्तित्वों से जुड़े हुए थे। भारमलजी स्वामी उनके आचार्य थे, ऋषिराय उनके दीक्षागुरु और मुनि हेमराजजी उनके विद्यागुरु थे। वे इन तीनों के प्रति समर्पित थे। उनका समर्पण स्वप्रेरणा और निष्काम भावना से प्रेरित था। उनका लक्ष्य सत्य की गवेषणा था, वे सत्य के प्रति समर्पित थे।

मुनि जीतमल ने समर्पण के साथ ही संयम-जीवन की यात्रा का शुभारंभ किया था। वे पहले मुनि-दीक्षा में आए। उनके बड़े भाई मुनि भीमराजजी उनके बाद दीक्षित हुए। दीक्षा के दो चरण होते हैं—प्रव्रज्या और उपस्थापना। प्रव्रज्या में दीक्षार्थी सामायिक (समता) की दीक्षा स्वीकार करता है और उपस्थापना में वह महाव्रतों की दीक्षा स्वीकार करता है। एक सप्ताह के बाद दूसरी दीक्षा में प्रवेश होता है। जिसे उपस्थापना दीक्षा पहले प्राप्त होती है, वह दीक्षा-पर्याय में बड़ा होता है और बाद में प्राप्त करने वाला छोटा।

भाद्रपद कृष्णा द्वादशी (11 सितंबर, 2004) श्रीमद् जयाचार्य (तेरापंथ के चतुर्थ अधिष्ठाता) का निर्वाण दिवस है। अवसर-विशेष पर मुनिश्री दुलहराजजी द्वारा संपादित ग्रंथ से यह आलेख जैन भारती के पाठकों के लिए—

भारमलजी सवामी जयपुर से प्रस्थान कर माधोपुर पधारे। मुनि हेमराजजी कोटा-बूंदी की यात्रा कर वहां पहुंच गए। मुनि अवस्था में तीनों पहली बार मिले। भारमलजी स्वामी ने मुनि भीमराजजी को चार मास पश्चात् उपस्थापना दीक्षा (बड़ी दीक्षा) स्वीकार कराई। मुनि जीतमल अभी भी सामायिक दीक्षा में थे। उन्हें छह मास के बाद इंद्रगढ़ में उपस्थापना दीक्षा प्राप्त हुई। मुनि भीमराजजी को दीक्षा-पर्याय में बड़ा करने के लिए ही ऐसा किया गया। मुनि जीतमल को इस घटना ने कभी प्रभावित नहीं किया। उनका लक्ष्य कुछ और ही रहा।

संवत 1907 की घटना है। मुनि जीतमल तब युवाचार्य अवस्था में थे। आचार्यवर ऋषिराय ने उन्हें बीदासर में चातुर्मास करने का आदेश दिया। वे चातुर्मास की स्थापना के लिए बीदासर पहुंच गए। आषाढ़ का महीना और भयंकर गर्मी, चिलचिलाती धूप, मरुस्थल की आंधियां और झुलसा देने वाली लू। उस समय ऋषिराय जयपुर विराज रहे थे। बीकानेर के मदनचंदजी राखेचा ने उनके पास एक प्रार्थना पहुंचाई—इस वर्ष युवाचार्य जीतमलजी स्वामी का चतुर्मास-प्रवास बीकानेर में होना बहुत लाभकारी रहेगा, इसलिए आप हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दें।

आचार्यवर ऋषिराय ने अपने युवाचार्य को बीकानेर में चतुर्मास-प्रवास करने का आदेश दे दिया। संवाद बीदासर पहुंचा। युवाचार्य जीतमलजी स्वामी तत्काल विहार करने को तैयार हो गए। सहवर्ती साधुओं के मन में विहार के लिए संकोच था। बीदासर के श्रावक भी नहीं चाहते थे कि यहां से युवाचार्य विहार करें। मिला हुआ चातुर्मास हाथ से निकल जाए—यह उन्हें अच्छा नहीं लगा।

उन्होंने युवाचार्य से प्रार्थना की—'आचार्यवर का आदेश शिरोधार्य है, पर मौसम कितना भयंकर है। यहां से बीकानेर पैंतीस कोस (सत्तर मील) है। रास्ता बहुत विकट है। बड़े-बड़े रेतीले टीले हैं। धूप चढ़ते ही बालू आग जैसी हो जाती है। आपका शरीर केवल आपका ही नहीं है, समूचे संघ का है। इसकी सुरक्षा करना हमारा कर्तव्य है। हम नहीं चाहते कि खतरा मोल लेकर आप यहां से विहार करें। हम यह भी नहीं चाहते कि आचार्यवर के आदेश का अतिक्रमण हो। हमारी भावना है कि आप कोई गली निकाल लें (बहाना बना लें), जिससे आदेश की अवमानना भी न हो और विहार भी न हो, हमारी भावना को भी चोट न लगे।'

युवाचार्य जीतमलजी ने उनकी बातें ध्यान से सुनीं। फिर संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। उन्होंने कहा—'गली तो वह निकालता है जो काम से जी चुराने वाला परजीवी होता है। मैं अनुशासन को अपना धर्म मानता हूं, फिर गली क्यों निकालूं?' सब मौन। पुनः प्रार्थना की स्थिति ही नहीं रही। मुनि भी विहार को तैयार हो गए। आषाढ़ शुक्ला द्वितीया को विहार हुआ। शुक्ला दसमी को बीकानेर पहुंच गए। नौ दिन की छोटी यात्रा थी, किंतु थी प्राणलेवा यात्रा। यह कसौटी भी थी अनुशासन की, भावी अनुशास्ता की और आचार्य भिक्षु के संविधान की। सब खरे उतरे। अनुशासन चिरजीवी हो गया। मुनि सरूपचंदजी को साथ ले युवाचार्य जीतमलजी ने बीदासर से प्रस्थान किया। पहला विहार लंबा था। धूप बहुत तेज। आहार करके चले थे, प्यास लगी। रास्ते में पानी कहां से आए। मरणांत कष्ट का अनुभव हुआ। महासत्त्व पुरुष जीवन में मृत्यु को हथेली पर रखकर ही चलते हैं, इसलिए वे तेजस्विता का जीवन जीते हैं। जयाचार्य की तेजस्विता का रहस्य था—उनकी हिमालय जैसी अविचल संकल्प-शक्ति, परम अर्थ से अनुप्राणित समर्पण और अडिग आत्म-विश्वास।

जयाचार्य की विनम्रता ने आचार्य पद को प्रभावी बनाया, किंतु पद ने उनकी विनम्रशीलता को प्रभावित नहीं किया। वे आचार्य बनने के बाद भी उतने ही विनयशील, कृतज्ञ और श्रद्धानत थे—जितने पहले थे। उनकी तर्कशक्ति, बौद्धिक विलक्षणता, तत्त्व की गहराई में पैठने वाली श्रद्धा को देख किसी श्रद्धालु ने कहा—'आचार्यवर! आप आचार्य भिक्षु से भी आगे हैं।' जयाचार्य हंसे, सुनकर फूले नहीं। अपनी विनम्रशीलता को संजोकर बोले—'तुम सचाई को नहीं जानते। सौ जीतमल इकट्ठे हो जाएं तो भी आचार्य भिक्षु के बाएं पैर की उंगली के नख की बराबरी नहीं कर सकते।'

विद्यागुरु, दीक्षागुरु और आचार्य—इन तीनों का भिन्न-भिन्न होना और उन सबके प्रति अर्हता के अनुरूप श्रद्धाभाव रखना, किसी को भी श्रद्धा की कमी का अनुभव न होने देना असिधार पर चलने जैसा व्रत है। मुनि जीतमल ने इस व्रत को बड़ी पटुता से निभाया।

संवत 1889 का चतुर्मास-प्रवास उन्होंने दिल्ली में किया। चतुर्मास उपरांत वहां से प्रस्थान कर गोगुंदे (मेवाड़) में ऋषिराय के दर्शन किए। दिल्ली चातुर्मास का सारा विवरण ऋषिराय के चरणों में प्रस्तुत किया। वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'जीतमल! अब हमें गुजरात की यात्रा करनी है। तुम भी हमारे साथ रहोगे।' मुनि जीतमल ने कहा—'जैसी आपकी इच्छा। जो आपकी आज्ञा है, वही होगा, वैसे ही होगा। मेरी एक प्रार्थना है। दो वर्षों से मैं मुनि हेमराजजी के दर्शन नहीं कर सका हूं, वे अभी मारवाड़ में हैं, यदि आप आज्ञा दें तो उनके दर्शन कर लूं और श्रीचरणों में फिर उपस्थित हो जाऊं।' ऋषिराय ने स्वीकृति दे दी। मुनि जीतमल छह दिनों में सिरियारी (मारवाड़) पहुंचे, मुनि हेमराजजी के दर्शन किए। दस दिन उनकी सेवा में रहे। वहां से विहार कर पुनः मेवाड़ आए। वहां से गुजरात के लिए प्रस्थान किया। गहन जंगल, दोनों और उन्नत पर्वत, पथरीली पगडंडियां, चारों ओर जंगली जानवरों की आवाजें। सात मुनि और दो गृहस्थ। उस आदिवासी प्रदेश में भीलों की झोंपड़ियों में विश्राम लेते-लेते वे एमनगर(?) में पहुंचे। वहां मुनि जीतमल ने मुनि मोतीजी से कहा—'आप पांच मुनि धीमे-धीमे आ जाना। मैं शीघ्रातिशीघ्र ऋषिराय के दर्शन करना चाहता हूं।' मुनि कोदरजी को साथ ले वे सानंद ऋषिराय के चरणों में उपस्थित हो गए।

संवत 1884 की घटना है। ऋषिराय मध्यप्रदेश की यात्रा कर रहे थे। मुनि जीतमल उनके साथ थे। वे झाबुआ के जंगल से गुजर रहे थे। झाड़-झंकाड़ से भरा भयावना प्रदेश। कहा भी जाता है—

झाड़ी बंको झाबुओ, वचन बंको कुशलेश।
हाडा गायड़ बांकड़ा, नरबंको मरुधर देश॥

चलते-चलते देखा, एक भयावनी आकृति आ रही है। निकट आने पर देखा, सामने से एक रीछ आ रहा है। मुनि जीतमल तत्काल ऋषिराय के आगे आकर खड़े हो गए। ऋषिराय ने कहा—हम चल ही रहे हैं, तुम आगे क्यों आए? पीछे चले जाओ। मुनि जीतमल ने कहा—यह नहीं हो सकता। आप संघ के आचार्य हैं। आपके शरीर की सुरक्षा करना हमारा धर्म है। आचार्य ने चाहा—आगे मैं रहूं और मुनिवर ने चाहा—आगे मैं रहूं। परस्पर आग्रह चलता रहा। न ऋषिराय भयभीत थे और न मुनि जीतमल। दोनों अभय। अभय की रश्मियां चारों ओर फैलीं। रीछ का हृदय भी संभवतः उससे अभिभूत हो गया। वह रास्ते को पार कर जंगल में चला गया।

भक्ति, श्रद्धा, विनय और समर्पण—ये सब एक ही भाव-दीप की प्रकाश-रश्मियां हैं। मुनि जीतमल इन सबसे आलोकित हो रहे थे। उनमें भक्ति की रेखाएं बहुत प्रस्फुट थीं।

मुनि जीतमल कुशल लिपिकार भी थे। वे ग्रंथों की प्रतिलिपियां और नव-निर्माण—दोनों करते थे। अचानक पता

सार्वभौम धर्म के प्रवक्ता

धर्म किसी संप्रदाय से आबद्ध नहीं है। वह सार्वभौम सत्य है, देश और काल की सीमा से परे है। जयाचार्य ने उसके सार्वभौम रूप का जैन आगमों के अनेक स्रोतों से समर्थन किया है। एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है—'असोच्चा केवली' (अश्रुत्वा केवली)। वहां बतलाया गया है कि जो सहज भाव से राग-द्वेष मुक्त जीवन जीता है, वह चेतना को अनावृत करते-करते केवली बन जाता है। जिसने धर्म का नाम तक नहीं सुना, उसकी व्याख्या भी नहीं पढ़ी, वह भी केवली बन जाता है। इसलिए उसे 'अश्रुत्वा केवली' कहा गया। यह धर्म के संप्रदायातीत स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन है।

धर्म के क्षेत्र में बहुत सारी मान्यताएं हैं। उनमें एक मान्यता है—मेरे संप्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी; अन्यथा नहीं होगी। यह धर्म का संप्रदाईकरण है। इससे धर्म आवरण के नीचे चला जाता है। इसीलिए संप्रदाय अधिक मिलते हैं, धर्म कम। अपेक्षा है—धर्म अधिक मिले, संप्रदाय कम। आचार्य भिक्षु ने धर्म के क्षेत्र में एक क्रांति की, धर्म को समझने का नया दृष्टिकोण दिया। उसका मूल सूत्र है—वास्तविक सत्य मुख्य रहे, व्यावहारिक सत्य गौण। धार्मिक लोग धर्म के क्षेत्र में भी व्यावहारिक सत्य को मुख्य मानकर उसके आधार पर निर्णय लेते हैं और वे निर्णय सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन देते हैं।

धर्म के दो रूप हैं—1. परंपरागत धर्म, 2. आंतरिक चेतना में घटित होने वाला धर्म। परंपरागत धर्म के कुछ नियम होते हैं। आंतरिक चेतना में जो घटित होता है—वह नियमातीत होता है। व्यवहार के जगत् में जो धर्मज्ञ नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। आगम-सूत्रों में दो घोषणाएं मिलती हैं—1. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया अच्छी है, मोक्ष-मार्ग की आराधक है। 2. मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया का उतना मूल्य नहीं है, जितना सम्यक्दृष्टि की धर्म-क्रिया का है। इन दो घोषणाओं के आधार पर दो विचारधाराएं बन गईं। अनेकांत की जब-जब विस्मृति होती है, तब-तब विचारों या विवादों का विस्तार होता है। सापेक्षदृष्टि से देखें तो दोनों घोषणाओं में कोई विसंगति नहीं है। दोनों घोषणाएं सापेक्ष हैं। जहां सापेक्षदृष्टि को निरपेक्ष मान लिया जाता है वहां एकांगी दृष्टि बनती है और विवाद बढ़ता है। आगम का प्रत्येक वचन निश्चय और व्यवहार—इन दोनों दृष्टियों से परीक्षणीय होता है। सम्यक् ज्ञान के लिए इन दोनों दृष्टियों का उपयोग अनिवार्य है। सूक्ष्म सत्य स्थूलदृष्टि द्वारा नहीं जाना जाता, संप्रदाय की सीमा में नहीं आता, वह निश्चय नय के द्वारा ही जाना जा सकता है। स्थूल सत्य स्थूलदृष्टि के द्वारा गम्य होता है। वह संप्रदाय की सीमा में आबद्ध होता है। उसकी व्याख्या व्यवहार नय के आधार पर की जा सकती है।

आचार्य भिक्षु ने मिथ्यादृष्टि की धर्म-क्रिया को मूल्यवान बतलाया। इस विषय में उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है—'मिथ्याती री करणी री चौपाई'।

चला—मुनि हेमराजजी बाहर जा रहे हैं। मुनि जीतमल उस समय प्रतिलिपियां कर रहे थे। जैसे ही पता चला, उन्होंने लिखना बंद कर दिया। आधा अक्षर लिखा गया था, आधा बीच में ही रह गया—अधूरा। यह स्थिति अनेक बार बन जाती थी। हार्दिक भक्ति और बहुमान जीवन का सर्वोपरि मूल्य होता है। जिसे यह उपलब्ध होता है, उसके लिए जीवन की हर प्रवृत्ति अमूल्य बन जाती है। जीवन-मूल्यों को बहुमूल्य बनाने वाली सचाई से हम अपरिचित नहीं हैं, फिर भी हर आदमी इसका उपयोग नहीं कर पाता। समर्पण के आदान-प्रदान की अर्हता किसी विरल व्यक्ति की भाग्य-लिपि में ही अंकित होती है। ❖

जयाचार्य ने उसे आधार बनाकर 'भ्रमविध्वंसन' नामक ग्रंथ का पहला अधिकार लिखा—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार। उसमें उन्होंने सम्प्रदायातीत धर्म का सशक्त समर्थन किया। उनका तर्क है—धर्म को संप्रदायातीत माने बिना आंतरिक जगत् में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं की जा सकती। एक प्राणी वनस्पति जगत् में होता है, वह उस सूक्ष्म जगत् से उत्क्रमण कर स्थूल जगत् में, अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था में प्रवेश करता है। यह विकास की प्रक्रिया चेतना के आंतरिक परिवर्तन से होती है। वह परिवर्तन धर्म से होता है।

धर्म की दो विधियां हैं—सहज धर्म और प्रयत्नकृत धर्म। सहज धर्म में—धर्म हो रहा है—इसका पता नहीं चलता। प्रयत्नकृत धर्म में उसका पता लग जाता है। सहज धर्म आंतरिक प्रक्रिया है। यह प्रत्येक प्राणी में होती है। इसी आधार पर 'असोच्चा केवली' की व्याख्या की गई है। जिस व्यक्ति ने धर्म को नहीं सुना, वह आंतरिक परिवर्तन और चेतना की निर्मलता को उपलब्ध होते-होते केवली की भूमिका तक पहुंच जाता है। बाहर से वह न संयमी बनता है, न वीतराग बनता है। आंतरिक प्रक्रिया से वह सम्यक्दृष्टि, संयमी, वीतराग और केवली—सब-कुछ बन जाता है। कहा जाता है—सम्यक् दृष्टि के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं। मिथ्यादृष्टि वाला व्यक्ति ज्ञानी नहीं होता, फिर चारित्र-संपन्न कैसे हो सकता है? मुक्ति की आराधना का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के लिए यह क्रम है, किंतु प्रयत्न-शून्य आराधना में यह क्रम अंतस् में फलित होता है, बाहर में उसका पता नहीं चलता। शुद्धि के प्रारंभिक बिंदुओं को अस्वीकार करें तो उसके मध्यबिंदु तक पहुंचने का कोई मार्ग ही नहीं मिलता। मिथ्यादृष्टि वाला जीव सम्यक्दृष्टि को उपलब्ध कैसे होगा? यह तर्क सार्वभौम धर्म के समर्थन का शक्तिशाली तर्क है।

इस प्रकार जयाचार्य ने अपने तर्क-बल और अनुभव-बल से संप्रदायातीत धर्म का सशक्त प्रतिपादन किया। ❖

छुपा सितारा पृष्ठ 45 का शेष

और प्रश्न सुलझाने वाले हर किसी को विश्व-भर में ख्याति मिली थी। अब तो घर बैठे ही उसे उसके सब प्रश्नों के उत्तर मिलने वाले थे। सामने परोसे मिष्टान्नों पर कोई भूखा जिस तरह झपट पड़ता है, उसी तरह राजेश लालायित होकर टी. वी. पर आने वाली सांकेतिक भाषा का मतलब जानने लगा।

लेकिन इस अत्यानंद के पीछे से एक उदास विचार भी झांक रहा था। वह निश्चित कौन-सा है, यह पहले राजेश नहीं जान सका। और फिर यकायक उसे याद आया।

जब वह स्कूल में पढ़ता था तब एक मेधावी छात्र के रूप में जाना जाता था। अपने प्रश्न खुद ही सुलझाने की कोशिश करता था...एक समय की बात है, जब वह आठवीं कक्षा में था और उससे कुछ जटिल प्रश्न नहीं सुलझ रहे थे। इम्तिहान भी नजदीक आ गया था। तब उसके एक दोस्त ने उसे गाइडनुमा उत्तरों की पुस्तक दी थी। उसमें सब प्रश्नों के जवाब थे। वह पढ़कर उसकी परीक्षा की तैयारी तो पूरी हो गई, लेकिन खुद प्रश्न सुलझाने का संतोष उसमें नहीं था।

आज वही असंतोष फिर से उसे सता रहा था, तब न सुलझे हुए सृष्टि के रहस्यों के जवाब अगर इस तरह तीस साल के बाद मिलने लगे तो आत्मनिर्भरता से नए अन्वेषण करने की जिद क्या मनुष्य गंवा नहीं बैठेगा?

राजेश उदास मुद्रा से टी. वी. से जुड़ी हुई मशीन से छपकर आती जानकारी की ओर देख रहा था। ❖

अनुवाद : **लीला बांदिवडेकर**

बालकथा

करनी का फल

कुमार ने उन दोनों की बात सुनी। पहले उसने उस लता का प्रयोग अपनी ही आंखों पर किया। कुमार की आंखें ठीक हो गईं और वह पुनः सब-कुछ भली प्रकार देखने लगा। राजकुमार ने उस लता के एक टुकड़े को अपने पास रख लिया। घूमते-घूमते एक दिन वह चंपापुर पहुंच गया। उसने अपनी बात राजा तक पहुंचाई कि वह एक चिकित्सक है और राजकुमारी की आंखों की चिकित्सा कर सकता है। राजा की स्वीकृति के पश्चात् कुमार ने अपनी अचूक दवा का उस पर प्रयोग किया। देखते-देखते ही राजकुमारी की आंखों में ज्योति लौट आई। वर्षों का अंधेरा कुछ ही क्षणों में गायब हो गया। राजकुमारी के सामने एक नया संसार उजागर हो गया। सब-कुछ उसे नया-नया सा लग रहा था।

मुनि ऋषभकुमार

श्रीबालनगर में नरवाहन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कमला था। कालांतर में रानी ने एक दिव्य सुकुमार को जन्म दिया। उसका नाम ललितांगकुमार रखा गया। सारे नगर में पुत्रोत्सव की खुशियां मनाई गई। राजा ने याचकों को खुले हाथों दान दिया। पूरे नगर को दुल्हन की तरह सजाया गया। जगह-जगह तोरण-द्वार बनाए गए और मंगल गीतों से कुमार का वर्धापन किया गया।

कुमार का लालन-पालन बड़े ही दुलार से हुआ। जब वह बड़ा हुआ और पढ़ना शुरू किया तो हर कला में प्रथम रहा और सभी विषयों में निपुणता प्राप्त की। विनय-विवेक आदि गुणों से भी वह संपन्न था। यौवन की दहलीज पर पैर रखते ही उसका सौंदर्य साक्षात् इंद्र के समान निखर उठा। कुमार के एक मित्र का नाम था सज्जन। नाम तो सज्जन था, पर उसकी वृत्तियां किसी दुर्जन से कम नहीं थी। ललितांग का उस पर अत्यधिक मित्रवत स्नेहभाव था। जिसके कारण वह उच्छृंखल बन गया था। अति कभी-कभी बिगाड़ भी कर देती है। इसीलिए नीतिकारों ने अति का सर्वत्र वर्जन किया है।

प्रातःकाल का समय। प्रतिदिन की भांति राजकुमार ललितांग आज भी अपने पिताश्री को प्रणाम करने गया। पिताश्री नरवाहन ने अपने विनीत पुत्र को बांहों में भरते हुए लाड़-प्यार किया और प्रसन्न होकर अपने गले का बहुमूल्य हार कुमार के गले में पहना दिया। पिता की इस वत्सलता से कुमार मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ और पुनः अपने महल में आ गया।

एक दिन राजकुमार किसी कार्यवश अपने मित्रों के साथ नगर-भ्रमण हेतु गया। नगरवासी कुमार के उदार और शांत स्वभाव से पहले से ही परिचित थे। ज्योंही वह राजपथ से गुजरा कि कुछ निर्धन-असहाय लोग उसके सामने हाथ पसारे भीख मांगने लगे। उनकी दरिद्रता और को देखकर कुमार का अंतःकरण करुणा से पसीज गया। अपना बहुमूल्य हार गले से निकालकर उन असहायों को दे दिया।

इस घटना का उसके मित्र सज्जन को भी पता चला। राजा के पास पहुंचा और कुमार की चुगली करते हुए राजा के कान भर दिए। यद्यपि, चुगली से सज्जन को कुछ भी मिलने वाला नहीं था, किंतु मन में जब दुर्भावना होती है तो व्यक्ति का व्यवहार भी वैसा ही हो जाता है।

राजा ने राजकुमार को बुलाया और हार के विषय में पूछा। कुमार कहे तो क्या कहे, वह उसे दान में दे

चुका था। पिता ने कुछ मीठा उपालंभ देते हुए कहा—'पुत्र! दान उचित है, पर सब जगह अति का होना भी अच्छा नहीं है। तुम्हारे में अति की जो प्रवृत्ति है, वह अच्छी नहीं है। मनुष्य की पूजा और श्रद्धा तभी होती है, जब उसके पास धन होता है। उसके न होने पर कोई किसी को नहीं पूछता। तुम्हें ही इस राज्य का संचालन करना है। तुम इन बातों पर विचार करो।

पुत्र ने पिताश्री की इस शिक्षा को गंभीरता से लिया। उस दिन से धीरे-धीरे हाथ पीछे खिंचते चले गए। उदारवृत्ति कृपणता में सिमटती गई। कुमार अब पहले जैसा नहीं रहा। लोग सोचने लगे कि जो कुमार पहले इतना उदार और दाता था, अब कंजूस और कृपण कैसे बन गया। वह जहां-कहीं भी जाता, उसके बारे में यही सोचा जाता। लोगों की इस ऊहापोह को कुमार भी समझता था। इसी ऊहापोह ने कुमार को पुनः सोचने के लिए बाध्य कर दिया। एक और पिताश्री का अनुशासन था तो दूसरी और जन-भावना। उसके सामने दुविधा-सी खड़ी हो गई। अंततः उसने सोचा दान कौन-सा बुरा काम है। पिताजी इससे नाराज होते हैं तो हों, मैं तो अपनी पूर्वावस्था से ही रहूंगा। कुमार फिर पहले की तरह धन लुटाने लगा। महाराज नरवाहन ने इसे अपनी आज्ञा का उल्लंघन माना और राज्य से निकाल दिया।

राजकुमार भी इसे अपने कर्मों का विपाक मानकर एकाकी ही चल पड़ा, पर उसका मित्र सज्जन अपनी सहानुभूति दिखाते हुए उसके साथ हो गया। चलते-चलते दोनों एक सघन जंगल में पहुंचे। कर्मों की गति विचित्र होती है। जो कुमार कल तक मखमली शैया पर सोता था, आज जंगल में भटक रहा था। जिस कुमार के लिए कल तक अनेक दास-दासियां सेवा में रहते थे, आज उसकी कुशल-क्षेम तक भी पूछने वाला कोई नहीं था। चलते-चलते कुमार काफी थक चुका था। विश्राम करने के लिए वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। एक ओर शारीरिक थकान थी तो दूसरी ओर मानसिक खिन्नता। उसका मन नहीं लग रहा था। इसलिए उसने अपने मित्र को कोई मनोरंजक बात करने को कहा। मित्र ने बात प्रारंभ करते हुए कहा—बताओ। धर्म-अधर्म में कौन अच्छा है? कुमार ने हंसते हुए कहा—मित्र! क्या तुम इतना भी नहीं जानते? जहां धर्म है, वहां हमेशा अच्छा ही अच्छा है। सज्जन ने कुमार की बात काटते हुए कहा—यदि धर्म अच्छा होता तो तुम्हें ऐसा दिन क्यों देखना पड़ता? धर्म की बजाए अधर्म अच्छा है। कुमार ने पूछा—इसका क्या प्रमाण हो सकता है? सज्जन ने फिर अपनी दुर्जनता को काम में लिया। उसने कहा—यदि मैं इसे प्रमाणित कर दूं तो तुम्हें मेरा दास बनना होगा, अन्यथा मैं तुम्हारा दास बन जाऊंगा। दोनों इस शर्त पर सहमत हो गए।

चलते-चलते दोनों एक नगर में पहुंचे। वहां के लोगों के समक्ष उन्होंने इस प्रश्न को रखा और उन्हीं के द्वारा इसका उत्तर मांगा। लोगों ने कहा—भाई! वर्तमान में तो अधर्म ही अच्छा है। जो जितना अधर्म करता है, वर्तमान में वह उतना ही सुखी रहता है। सज्जन अपने प्रश्न का उत्तर पाकर मन-ही-मन खुश हो रहा था। उसने कुमार को संकेत करते हुए कहा—अब तुम ही देख लो कि हम दोनों में कौन जीता है? आज से तुम मेरे दास और मैं तुम्हारा स्वामी। बेचारा कुमार अब क्या कर सकता था। वह बाजी हार चुका था। कुछ दूर आगे चलें होंगे कि सज्जन ने पुनः धर्म को कोसा और उसे बुरा बताया। इस बार कुमार कुछ क्रोध में आ गया। उसने आदेश में कहा—तुम्हें हो क्या गया है? तुम कहलाते तो सज्जन हो, लेकिन दुर्जन के सब लक्षण तुम्हारे में भरे हुए हैं। सज्जन ने फिर कुमार को अपनी बातों में लेते हुए शर्त रखी कि इस बार जो हार जाएगा तो वह अपनी आंखें देगा। इस बार भी कुमार उस धूर्त मित्र की बातों में आ गया। अंततः उसे हारना पड़ा और अपनी आंखें गंवानी पड़ीं। सज्जन ने कुमार पर व्यंग्य कसते हुए कहा—देख लिया अपने धर्म का मजा? यदि और कुछ चाहो तो और भी दिखा दूं।

कुमार अपने कृत कर्मों को समभावपूर्वक सहन कर रहा था। मित्र सज्जन की सारी दुर्जनता कुमार के सामने प्रकट हो चुकी थी। वह उसे असहाय अवस्था में छोड़कर कहीं दूर चला गया।

सूर्य अस्त हो चुका था। कुमार एकाकी जंगल में किसी वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उस समय उस वृक्ष पर दो भारंड पक्षी परस्पर बातचीत कर रहे थे। कुमार पक्षियों की भाषा समझता था। उसका ध्यान उनकी बातों में लग गया। उनमें से एक भारंड पक्षी ने कहा—चंपापुर में महाराजा जितशत्रु हैं। पुष्पवती उनकी कन्या है, वह सुरूपा और लावण्यमयी है। किंतु कर्मयोग से वह अंधी हो गई है। महाराजा ने उद्घोषणा की है—जो व्यक्ति राजकुमारी की आंखें ठीक करेगा वह उसे आधा राज्य और राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर देगा।

दूसरे भारंड पक्षी ने अपने पक्षी मित्र से पूछा—क्या तुम इसका उपाय भी जानते हो? पहले भारंड पक्षी ने कहा—हां, मैं जानता हूं। इस वृक्ष पर एक लता है उसको घिसकर आंख में आंजने से पुनः आंखों की रोशनी लौट आती है।

कुमार ने उन दोनों की बात सुनी। पहले उसने उस लता का प्रयोग अपनी ही आंखों पर किया। कुमार की आंखें ठीक हो गईं और वह पुनः सब-कुछ भली प्रकार देखने लगा। राजकुमार ने उस लता के एक टुकड़े को अपने पास रख लिया। घूमते-घूमते एक दिन वह चंपापुर पहुंच गया। उसने अपनी बात राजा तक पहुंचाई कि वह एक चिकित्सक है और राजकुमारी की आंखों की चिकित्सा कर सकता है। राजा की स्वीकृति के पश्चात् कुमार ने अपनी अचूक दवा का उस पर प्रयोग किया। देखते-देखते ही राजकुमारी की आंखों में ज्योति लौट आई। वर्षों का अंधेरा कुछ ही क्षणों में गायब हो गया। राजकुमारी के सामने एक नया संसार उजागर हो गया। सब-कुछ उसे नया-नया सा लग रहा था।

राजा ने प्रसन्न होकर कुमार को आधा राज्य दे दिया और राजकुमारी का पाणिग्रहण भी उसके साथ कर दिया। उस दिन से कुमार के दिन पुनः सुखपूर्वक बीतने लगे।

एक दिन राजकुमार अपने महल के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर की शोभा निहार रहा था। वह राजपथ से गुजरने वाले व्यक्तियों को देख रहा था। अचानक उसकी दृष्टि एक दरिद्र पर पड़ी। कुमार समझ गया कि यह दरिद्र व्यक्ति उसका पुराना मित्र सज्जन ही है। उसकी दुरवस्था देखकर वह तत्क्षण नीचे उतरा। उसे अपने पास बुलाया। सज्जन ने भी कुमार को पहचान लिया। नीतिकारों का मत है कि दुर्जन व्यक्ति कभी अपनी दुर्जनता और सज्जन व्यक्ति अपनी सज्जनता नहीं छोड़ते। उसने मित्र के साथ पहले जैसी मित्रता निभाते हुए कहा—यह तुम्हारा ही प्रताप है कि मुझे ऐसी सुख-सुविधा उपलब्ध हुई है। यदि तुम मेरे साथ ऐसा व्यवहार नहीं करते तो संभव है आज मैं ऐसा नहीं होता। तुम मेरे साथ रहो। किसी बात की चिंता मत करो। सज्जन उसकी बात मानकर वहीं रहने लगा।

साथ-साथ रहना और साथ-साथ खाना। दोनों का नित्यक्रम बन गया। पर राजकुमारी सज्जन के व्यवहार से संतुष्ट नहीं थी। एक दिन उसने अपने पतिदेव से कहा—प्राणेश! भले ही यह आपका मित्र हो, पर इनसे दूर रहना ही अच्छा है। इनके कार्य-कलापों से लगता है कि भविष्य में यह आप को धोखा दे सकता है। कुमार के मन में कोई पाप नहीं था। इसलिए उसने बात को सुना-अनसुना कर दिया।

काफी दिन बीत चुके थे। अभी तक चंपापुर के महाराजा जितशत्रु अपने दामाद ललितांग के जाति, कुल-गौत्र आदि से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। एक बार उन्होंने अवसर देखकर कुमार के मित्र सज्जन को एकांत में बुलाया और कुमार के विषय में जानना चाहा। सज्जन तो ऐसे अवसर की ताक में ही था। उसने मौके का लाभ उठाते हुए कहा—महाराज! आप जिसे राजकुमार मान रहे हैं वह तो मेरी दासी का पुत्र है। कुछेक कलाओं को सीखकर वह आपके द्वारा सम्मानित हो गया। वस्तुतः राजा का पुत्र तो मैं हूं। कहीं यह भंडाफोड़ न हो जाए, इसे छिपाने के लिए ही उसने मुझे अपने पास रखा है। मैंने आपको विश्वस्त जानकर ही यह भेद खोला है। आप इस रहस्य को कहीं अन्यत्र प्रकट न करें। आप तक ही सीमित रखें।

राजा उसकी बात सुनते ही क्रोध से भर गया। उसने मन-ही-मन सोचा—सांप भी मर जाए और

लाठी भी न टूटे। मैं ऐसा उपाय करूं। मेरी प्रतिष्ठा और कुल का गौरव अक्षुण्ण बना रहे। उसने एक षड्यंत्र रचा और कुमार को मिलने के लिए अपने पास बुलाया। राजा ने पहले से ही अपने सुभटों को आदेश दे रखा था कि जो भी व्यक्ति इस दरवाजे से प्रवेश करे, उसका वध कर देना।

राजा ने मुझे क्यों बुलाया है—यह जानने के लिए कुमार ने अपने मित्र सज्जन को वहां भेजा। जैसे ही उसने दरवाजे में प्रवेश किया सैनिकों ने उसका सिरच्छेद कर डाला। राजा के षड्यंत्र का शिकार सज्जन बन गया। दूसरों के लिए खाई खोदने वाला स्वयं उसी में पड़ गया।

राजा को जब इस घटना का पता चला तो उसने सही स्थिति जानने के लिए मंत्री को भेजा। मंत्री ने कुमार से मिलकर आदि से अंत तक सारी स्थिति जानी और जब राजा को वस्तुस्थिति का पता चला तो अपनी गलती पर बहुत ग्लानि हुई। वह स्वयं अपने इस जघन्य अपराध की क्षमा मांगने के लिए कुमार के पास आया। राजा ने कहा—कुमार! मैं तुम्हारे मित्र की दुर्जनता में फंस गया था। मैं सचाई को समझ ही नहीं सका। अच्छा हुआ कि उस दुर्जन व्यक्ति को अपने कृत का फल मिल गया। अब आप मेरे इस राज्य को संभालें और मैं आत्मसाधना में लगना चाहता हूं। राजकुमार को राज्य का उत्तरदायित्व सौंपकर राजा स्वयं दीक्षित हो गया।

राजकुमार ने दीर्घकाल तक राज्य किया। फिर वह भी राजा के पथ का अनुसरण करता हुआ अंत में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन गया। ❖

मेरा खयाल है कि स्वार्थपरता, दूसरों के प्रति उदारता और उच्छृंखलता आदि समाज-संगठन-विरोधी वृत्ति—'ऐण्टी-सोशल क्वालिटी'—की खातिर ही हम संगठित होकर कुछ कर नहीं पाते। संगठित होकर काम न कर पाने के कारण—चाहे सामाजिक क्षेत्र में या व्यावयासिक क्षेत्र में, या राष्ट्रीय क्षेत्र में—हम किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर पाएंगे। मैं यह नहीं चाहता कि हमारे राष्ट्रीय अधःपतन के कारण संबंधी मेरे विचार बिना आलोचना किए आप स्वीकार कर लें। बल्कि मैं चाहता हूं कि आप लोग सभी राष्ट्रों का इतिहास अगल-बगल रखकर आलोचना करें और इस आलोचना से अधःपतन के कारण ढूंढ़ निकालें। हम अपने दोषों को यदि हर क्षण अपनी दृष्टि के सामने रख सकें तो संपूर्ण राष्ट्र इस विषय में सतर्क होगा।

विश्वजगत् और मनुष्य जीवन में घटना-परंपरा के अंतराल में जो एक अदृश्य नियम निहित है—इसे हममें से बहुत नहीं जानते या जानते हैं तो महत्त्व नहीं देते। किंतु पाश्चात्य देशों के मनीषी किसी भी घटना को सहज, आकस्मिक, या देवसम्मत या दुर्दैव नहीं मानते। प्रत्येक को राष्ट्र के आदर्श में अपने को होम करना होगा। ऐसा कर पाने पर मनुष्य के विचार तथा करनी और कथनी में एकरूपता आएगी; उसका अंतः और बाह्य एक हो जाएगा; उसका संपूर्ण जीवन एक आदर्श सूत्र में बंध जाएगा; वह तब अपने जीवन में एक नया रस, नया आनंद, नया अर्थ अनुभव करेगा, अखिल विश्व उस बिंदु पर उसे नए प्रकाश में चमकता नजर आएगा।

—सुभाषचंद्र बोस

With Best Compliments From :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

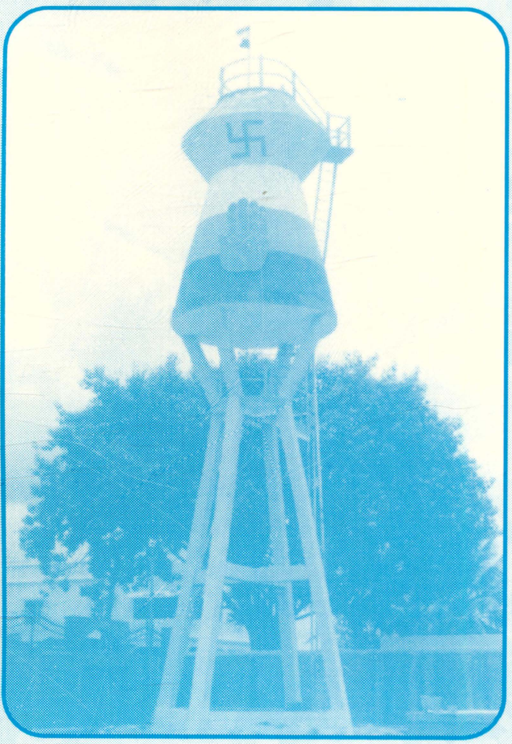

Overhead Water Tank 36,000 Ltrs. Capacity and 51 feet Height at
'ACHARYA SRI TULSI MAHAPRAGYA CHETANA KENDRA'
Designed and constructed by

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, Bangalore 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

जैन भारती, सितंबर, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

With Best Compliments From :

MICRO LABS LIMITED

MAKERS OF QUALITY HEALTHCARE PRODUCTS

Headed by
Sri Ghewarchand Surana, Chairman
Sri Dilip Surana, Managing Director
Sri Anand Surana, Director

303, Queens Corner, 3 Queens Road, Bangalore 560001

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।